

रामउवाच - 2

अनाहत नाद

रामध्वनि - 2
अनाहत नाद

परम पूज्य आचार्य प्रवर 1008
श्री रामलाल जी म. सा.

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

रामध्वनि
2

अनाहत नाद

प्रकाशक

साधुमार्गी पब्लिकेशन
अन्तर्गत - श्री अखिल
भारतवर्षीय साधुमार्गी
जैन संघ

मुद्रक

जयन्त प्रिन्टरी
एल. एल. पी.,
मुम्बई-400002
फोन नं. 022 4366 7171

मूल्य

100/- (सौ रुपए मात्र)

एक प्रकृति पुरुष, जिसके जीवन की समस्त दैनिक क्रियाएं लक्ष्य की ओर सतत् गतिशील हैं, एक ऐसा महामानव जिसके व्यवहार में आगमिक सूत्रों का सार निहित है। एक ऐसा दिव्य पुरुष जो इस कलिकाल की भौतिकतावादी चकाचौंध में भी सतयुग के भव्य प्राणियों की भांति अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सिद्धान्तों पर अटल है। यदि हमें ऐसी महान आत्मा के साथ एकान्त साक्षात्कार का सुन्दर अवसर प्राप्त हो जाए तो उस क्षण के आनन्द का कहना ही क्या...

यदि आपको जीवन में एक बार भी हुक्मगच्छ के नवें पाट पर सुशोभित नानेश पट्टधर, परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर 1008 श्री रामलाल जी म. सा. का निकटता से दर्शन करने का सौभाग्य मिला हो तो, निश्चित रूप से आपने देखा होगा कि आचार्य भगवन सैकड़ों लोगों की भीड़ के बीच भी अपनी आत्म-रमणता की स्थिति बनाए रखते हैं। अपने आपको स्वाध्याय, लेखन, आत्म-चिन्तन-मनन में व्यस्त रखकर, अपना समय केवल आत्म विश्लेषण को देते हैं। उसी चिन्तन-मनन के मंथन से निकलता है विचारामृत। उसी गहन मंथन से समाज को व्यसन मुक्ति का संदेश, गुणोत्कीर्तन जैसी विचारधारा, उत्क्रांति जैसी सामाजिक व्यवस्था आशीर्वाद स्वरूप प्राप्त हुई। आखिर हम भी जानें उन महत्वपूर्ण लम्हों को, जिन लम्हों में आप श्री ने आत्म साक्षात्कार की स्थिति में अमूल्य विचारधाराओं का सूत्रपात किया। पूज्य आचार्य श्री के विचारों की गहराई से निकलने वाले वे अनमोल चिन्तन और उनकी लेखनी विचारों के मुमुक्षु भाव का सर्वांगीण दिग्दर्शन कराती हैं। ये मात्र विचार ही नहीं हैं, अपितु आत्मा के समीक्षण से निकले अमूल्य सूत्र हैं, जिनका न केवल वे उपदेश देते हैं, बल्कि स्वयं के जीवन में अक्षरशः पालन करते हैं। आपश्री के उपदेश बहुत ही सरल और प्रभावी हैं, जो हमारे जीवन के हर पहलू को स्पर्श करते हैं। संघ अपना दायित्व निभाते हुए आप सभी को उस दिव्य आत्मा के दुर्लभ विचारों से लाभान्वित कराना चाहता है। इसी उद्देश्य से इस पुस्तक के माध्यम से अनमोल मणि मुक्ताओं का संग्रह पाठकों को उपलब्ध कराया जा रहा है। इसलिए आपके हाथों में विराजमान है, एक महामानव के अद्भुत विचारों का संकलन- **अनाहत नाद**

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ





संघ के प्रति अहो भाव

हे पितृ तुल्य संघ! हे आश्रयदाता संघ!

संसार के प्रत्येक जीव की रक्षा के लिए सतत् प्रयत्नरत संघ! तुम्हारी शीतल छांव तले हम अपने परिवार के साथ तप-त्याग से युक्त आध्यात्मिक, सुखद जीवन जी रहे हैं। तुम्हारे ही आश्रय में रहकर हमने अपने नन्हें चरणों को आध्यात्मिकता की दिशा में बढ़ाया है। तुमने ही हमें आत्मा के अन्वेषण हेतु प्रेरित किया। तुम्हारी ही प्रेरणा से प्रेरित होकर हमने अपने जीवन को सन्मार्ग की ओर बढ़ाया है। इस हेतु हम संघ का अभिवादन करते हैं।

संघ ने हम अकिंचन को इस पुस्तक 'अनाहत नाद' के माध्यम से सेवा का अनुपम अवसर प्रदान किया। इस हेतु हम अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। अन्तर्भावना से संघ का आभार व्यक्त करते हुए यह विश्वास करते हैं कि भविष्य में भी परम उपकारी श्री संघ शासन हमें सेवा का अवसर प्रदान करता रहेगा।

अर्थ सहयोगी

कुसुम बाई, अनिल-प्रभा, मनोज-संगीता, नवीन-ममता,
रौनक-प्रियंका, रजत-ग्रीष्मा, आदित्य, खुशी
एवं राजवीर देशलहरा, दुर्ग

॥ सेवा है यज्ञकुण्ड, समिधा सम हम जलें ॥



अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
अनुसंधानकर्ता बनें	1	चिन्तामणि से भी बढ़कर है स्तुति	30
'विशेष' बनो, बताओ मत	2	मूल स्वरूप सबका एक समान	31
दीक्षित किसे किया जाए	3	व्यक्तित्व विकास एक दृष्टि	32
देना सबको सच्चा ज्ञान	4	व्यक्तित्व निखार : कब-कैसे?	33
क्रियाओं के साथ भाव शुद्ध करें	5	विनय : साधवाचार की समग्रता	34
वाद करें, विवाद नहीं	6	चातुर्मास बने उत्क्रान्ति रूप	35
पांच की करामात	7	प्रयास, पद के लिए नहीं	36
उन्नति के पांच सूत्र	8	निष्काम सेवा अमूल्य है	37
अनुशासन अनुपेक्षणीय	9	अध्यात्म के पूर्व आत्म-ज्ञान	38
मनोमल विशोधकम्	10	अज्ञान के कुचक्र को जानो	39
न्याय के नाम पर अन्याय न हो	11	आत्मा को जानने के उपाय	40
करणीय के प्रति निराश न हों	12	सुनें-सुनें और सुनें	41
सामर्थ्य जगाने का सूत्र	13	देखने को आंख भर जरूरी है	42
जो मन को पवित्र करे वह दान	14	समाधि का सहज उपाय	43
लक्ष्य फिसल न जाए	15	सुनें तो कैसे सुनें?	44
दुरुपयोग से बचें	16	सुनें तो ऐसे सुनें	45
गुरु पूजा का स्वरूप	17	मन का उचाट : कारण और समाधान	46
चाबुक की चाह नहीं करें	18	'मन बनना' ही मुख्य आधार	47
जो न हो वह हो नहीं सकता	19	पहचान बनाती शक्ति सम्पन्न	48
सावधान! अब चढ़ाई है	20	पूर्णता की राह पर	49
मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ	21	बहे संवेग रस धार	50
अपना रूप सम्हाल	22	यह वेला जगने की है	51
गुरु के दिल में समाने का गुरु	23	कर्माँ के प्रति आन्दोलन	52
कार्य क्षमता को विकसित करें	24	पैठ जमाने की तरकीब	53
संवाहक की अर्हताएं	25	सर्व शक्ति सम्पन्नोऽहम्	54
स्वयं स्वयं के गुरु बनो	26	आकार को आकार मानें	55
शिष्य बढ़ाए शक्ति गुरु की	27	धर्म और तत्त्व का ऐहिक फल	56
परम तोष दे गुरु की पूजा	28	आर्त-भाव को दूर करें	57
स्व-संवेदन ही वह तुला है	29	संधारा : आत्महत्या नहीं	58

पृष्ठ संख्या	पृष्ठ संख्या		
स्वतन्त्रता बनाम आत्मानुशासन	59	परिवर्तन होगा बशर्ते...	88
अध्ययन के प्रति उद्यम हो	60	करो कुछ आत्म हित चिन्तन	89
मन का फर्श मजबूत हो	61	बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद	90
दृष्टि को बनाएं पारखी	62	साधना का उद्देश्य : समाधि	91
समकित ज्योति आंख में	63	शक्ति केन्द्रों को जानें	92
विनीत को दे श्रुत का साज	64	शिथिल पड़ता समाज	93
संधारा आत्मरक्षा रूप है	65	अत्याचार को सहें नहीं जीतें	94
जो भला करे वह लाभ	66	शुद्ध आत्मबन आदरे	95
श्रुताभ्यास के आठ गुण	67	मनःस्थिति प्रवाह में न बहे	96
क्या है पुरुषार्थ	68	आत्म क्षरण को कैसे रोकें	97
प्रज्ञा बने परिणाम दायी	69	आशातना अपराध है	98
भाव संवर का भव्य रूप	70	अग्रगामी बनने का सूत्र	99
दवा जब काम ना आए	71	क्रिया स्व-पर सापेक्ष	100
ऐसा होना अनहोना नहीं	72	अधिकरण को समझें, छोड़ें	101
संवेग आत्मा का आह्लाद है	73	गुरु शिष्य का सुखद संयोग	102
आत्मरक्षा का श्रेष्ठ उपाय	74	दर्शन दारिद्र्य को दूर करें	103
मोह करे मन को कमजोर	75	देह को भजे सो दुखी होय	104
उद्देश्य तप नहीं समाधि हो	76	साधु का शिष्ट-आचार	105
तप आत्म पोषक हो	77	ऊर्जा का अखूट स्रोत	106
निर्जरा : कर्मों का आत्मा से खिरना	78	क्रिया से बढकर भाव	107
जीवन और उपदेश सम हो	79	निश्चय और व्यवहार की समझ	108
मानसिक क्रिया आकृति न बनें	80	मरने वाला कौन?	109
आ-मर्यादया लोचना-आलोचना	81	प्रसन्नता का राज	110
मानसिक क्रिया के भेद	82	मैल से न आंका जाय	111
जन्म : सफलता के लिए	83	प्रतिशोध के भाव भयंकर	112
आत्मा को लघुभूत बनाएं	84	धन पर न टिके निगाह	113
अमृत सुधा कहां है	85	स्थान भ्रष्टा न शोभन्ते	114
सब अंगों को मिले सुरक्षा	86	बत्तीसी का सार	115
फ़सल में अन्तर का कारण	87	गुरु गुण कौन ग्रहण करे	116



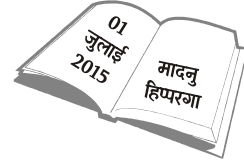
अनुक्रम

	पृष्ठ संख्या		पृष्ठ संख्या
कल्पना प्रसव प्रधान हो	117	स्वयं से स्वयं	129
मुक्ति : युक्ति से नहीं भक्ति से	118	निमित्तों को दीर्घाकार मत दो	130
तुम्हारी खुशी का राज	119	तू - तू, मैं - मैं का कारण	131
जिम्मेदार बनें	120	आत्म समाधि अपना लक्ष्य	132
विष रहित बनो	121	महल की नींव मजबूत हो	133
समाधि का अवतरण	122	चतुर्विंशति सूक्त	134
अपनत्व से संघ सेवा	123	पुण्य पूजा खत्म न हो	135
संयम में श्रम करें	124	लक्ष्य बनाएं, सफल बनें	136
किंकर्तव्यविमूढ़ न बनें	125	ज्यादा मनुहार उचित नहीं	137
देखो! बहार लुट न जाए	126	सत्य निष्ठा-जीवन की आब	138
एयाणी वंता	127	बुद्धि सावकाश हो	139
कांच के गिलास जैसी है साख	128	विचारों को कार्यान्वित करो	140



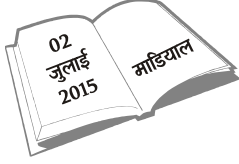
1

अनुसंधानकर्ता बनें



अधिकांश व्यक्ति गतानुगतिक होते हैं। राह पर चलने वाले होते हैं। राह बनाने वाले विरले होते हैं। राह पर चलना आसान काम है। राह बनाने में कठिनाई है। उसमें परिश्रम करना पड़ता है। कितनी-कितनी मुश्किलों, कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, तब कहीं जाकर राह बन पाती है। कठिनाइयों से बिना मुकाबला किए राह बना पाना संभव नहीं है। राह बनाने के लिए गहन विचारों के साथ गहन अनुसंधान की अपेक्षा होती है। अनुमान कोई भी लगा सकता है, किन्तु अनुसंधान करना हर किसी के बूते की बात नहीं है। यही कारण है कि जिसे जो राह मिल जाती है वह उसी राह का राही बन जाता है। व्यवहारिक क्षेत्र में व्यक्ति हर किसी राह का राही नहीं बनता, जिसे जहां पहुंचना होता है, वह उसी राह को पकड़ता है। धार्मिक जगत में व्यक्ति किसी भी राह को पकड़ लेता है। धर्म एक है। धर्म की राह भी एक ही है, किन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में धर्म को विविध रूप दे दिए गए हैं। जो जिस साधना पद्धति को स्वीकार कर लेता है, वह उसे ही धर्म मानने लगता है। हकीकत में साधना पद्धतियां शरीर हैं। **धर्म है आत्म-समाधि। धर्म है अकषाय भाव। धर्म है वीतरागता।** यदि वीतरागता, आत्म-समाधि व अकषाय की प्राप्ति हो रही हो तो ही वे साधना पद्धतियां उपादेय हैं। चूंकि पहले कहा जा चुका है कि लोग गतानुगतिक अधिक होते हैं, अतः उन्हें जो साधना पद्धति मिल जाए, उसे वे स्वीकार कर लेते हैं। प्रायः जन्मना संस्कार ही उसका आधार होता है। जो जिस कौम, खानदान में पैदा हुआ होता है, उसमें जो धर्म-संस्कार होते हैं, वह भी उन्हीं का अनुकरण कर लेता है। स्वयं से संधान करने की प्रवृत्ति नहीं है। है भी तो विरल हैं। ऐसी स्थिति में जिसे जो वातावरण मिला, जो संस्कार मिले, वे उन्हीं में ढलते जाते हैं। कहीं ढोल-नगाड़ों से धर्म मनाया जा रहा है तो कहीं धूप-दीप, अगरबत्ती आदि को ही धर्म माना जा रहा है। भारत ही नहीं दूसरे देश के लागों से भी पूछें तो वे अपने-अपने धर्म का बखान कर सकते हैं। शरीर को मांज-मांज कर उसकी चमक दिखा सकते हैं, पर धर्म की आत्मा, रूप, वीतरागता आदि के दर्शन दुर्लभ होते जा रहे हैं। अतः गतानुगतिक वृत्ति से ऊपर उठते हुए अनुसंधानकर्ता बनें।





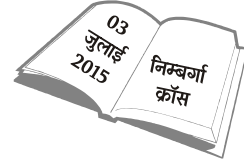
‘विशेष’ बनो, बताओ मत



कुछ लोग स्वयं को विशेष रूप से ख्यापित करने में लगे रहते हैं। वे किसी भी अच्छे कार्य का श्रेय अपने खाते में लेने का प्रयत्न करते हैं। उनका लक्ष्य रहता है कि अन्य लोग यह समझें कि अमुक विशेष है। ऐसे व्यक्तियों की एक खासियत होती है कि उनको थोड़ा-सा भी मान-सम्मान दो तो वे दौड़े-दौड़े काम करते हैं। कुछ लोग बिना काम के नाम, यश, श्रेय लेना चाहते हैं, जबकि कुछ लोग काम करते हुए श्रेय लेना चाहते हैं। वे दूसरों के समक्ष अपनी विशेषता को बढ़ा-चढ़ाकर बताने का प्रयास करते हैं। वे चाहते हैं कि लोग यह समझें कि वह विशेष है। सामाजिक क्षेत्र में वे अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहते हैं। उसके लिए वे दूसरों से मेल-मिलाप बनाए रखते हैं। उनके द्वारा कुछ भी अच्छा कार्य सम्पन्न होने पर वे उसका बखान इस प्रकार से करते हैं कि सुनने वाले सहज ही उनकी प्रशंसा करने लगे। ऐसे लोग प्रशंसा प्रिय होते हैं। प्रशंसा से उनका मन बांसों उछलने लगता है। प्रशंसा करने वालों के प्रति उनका व्यवहार सहानुभूतिपरक देखा जा सकता है। ऐसे लोगों की एक कमजोरी भी होती है कि ये लोग अपना विरोध सह नहीं पाते। यदि कोई उनका विरोध करे तो उनके प्रति उनका व्यवहार अत्यन्त रुक्ष बन जाता है। बात-बात में वे उनको प्रताड़ित करते रहते हैं। अवसर मिलते ही वे उनकी बुराई करने में पीछे नहीं रहते हैं। समाज में उनके विरोध का वातावरण बनाने में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण बन जाती है। कुल मिलाकर वे अपने विरोधी को मसल देना चाहते हैं। वे एक छत्र अधिकार चाहते हैं। वे चाहते हैं कि वह जो भी करें, लोग उसकी प्रशंसा करें। यदि मात्र उनके सामने भी उनकी प्रशंसा की जाती रहे तो वे उसमें भी राजी रहते हैं। वे कुछ ज्यादा ही अपेक्षा वाले होते हैं। इस कारण से कई बार वे अन्य लोगों द्वारा नकार भी दिए जाते हैं। वह स्थिति उनके लिए बड़ी पीड़ाकारी होती है। इससे बचने का एक ही उपाय है कि व्यक्ति स्वयं को विशेष बनाए जरूर, पर समझे नहीं। समझने में समस्या खड़ी हो जाती है। अतः उन्नत व आनंदमय जीवन के इच्छुक व्यक्तियों को अपने सामर्थ्य को बढ़ाना तो चाहिए, पर उसका प्रदर्शन नहीं करना चाहिए।



दीक्षित किसे किया जाए

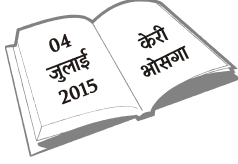


दीक्षा की पात्रता के लिए जाति, कुल बाधक नहीं होते। किसी भी कुल में उत्पन्न व्यक्ति में आत्म-बोध जागृत हो सकता है। दीक्षा देना या न देना सम्प्रदाय विशेष की अपनी व्यवस्था हो सकती है, किन्तु पात्रता किसी में भी प्रकट हो सकती है। हरिकेशबल मुनि चाण्डाल कुलोत्पन्न थे। वे साधु बने और उत्कृष्ट संयम की आराधना की। अर्जुन माली भी दीक्षित हुए। ऐसे एक-दो नहीं अनेक व्यक्तियों ने साधना से स्वयं को जोड़ा व आत्मकल्याण की दिशा में आगे बढ़े। वर्तमान में भी क्या कोई हरिजन-सतनामी आदि दीक्षित हो सकता है? उन्हें दीक्षित किया जा सकता है? यह एक प्रश्न है। इसका समाधान यह है-हरिजन हो या सतनामी, कोई भी हो, दीक्षा की पात्रता किसी में भी प्रकट हो सकती है। आत्मबोध किसी जाति आदि से बंधा हुआ नहीं है। वह किसी में भी पैदा हो सकता है, जैसा कि कहा जाता है -

‘जात पांत पूछे ना कोय, हरि को भजे सो हरि का होय’

भगवान महावीर ने भी जब क्रांति का शंखनाद किया तब भेदभाव की दीवारें ढहने लगी थीं। भगवान ने हर इन्सान को इन्सान माना था। उन्होंने ऐसा भेद नहीं किया कि अमुक धर्म का अधिकारी हो सकता है, अमुक नहीं। किन्तु वे सर्वज्ञ थे। पिछले समय में स्व. आचार्य पूज्य श्री नानालाल जी म.सा. का कर्मणा जैन बने व्यक्तियों के दीक्षा लेने के विषय में अनुभव इतना अच्छा नहीं रहा। अतः उन्होंने सवर्ण के अलावा अन्य को दीक्षा देने का मन नहीं बनाया। यद्यपि खाती, सुथार, जाट आदि कई भाई उनके समय में दीक्षा की भावना ले उपस्थित हुए थे, पर उन्होंने उन्हें पहले श्रावक धर्म में सुदृढ़ बनने का निर्देश दिया था। हालांकि कभी-कभी जन्मना जैन-कुल से दीक्षितों की जो स्थितियां सुनने में आती हैं, वे भी रोंगटे खड़े कर जाती हैं। साधु पोशाक में उनके द्वारा क्या नहीं हो रहा है, यह समीक्षा करने से स्पष्ट हो सकता है। अतः फिलहाल सवर्ण को भी दीक्षित होने की स्वीकृति तभी दी जाती है, जब उसमें संवेग-निर्वेदादि के प्रबल भाव दृष्टिगत हों व अध्यात्म भावों में रमण करने वाला हो। अन्यथा जन्मना जैन को भी स्वीकृति नहीं दी जाती।





देना सबको सच्चा ज्ञान

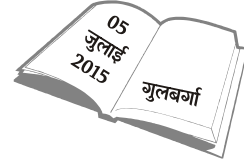


संत-दर्शन हेतु आने वाले अनेक लोग ऐसे होते हैं, जो आर्तभाव से उपस्थित होते हैं। उनके समक्ष कई पारिवारिक समस्याएं होती हैं। वे उन समस्याओं के समाधान हेतु संतों से निवेदन करते हैं। कई संत कहलाने वाले, कुछ-कुछ मंत्र-तंत्र भी बताते हैं। उनसे कुछ हो न हो, लोगों को थोड़ा आश्वासन अवश्य मिल जाता है। होना तो वही होता है, जैसा उनका उपादान होता है। यद्यपि उपादान को फलने के लिए निमित्त की भी आवश्यकता होती है, तथापि निमित्त प्रधान नहीं होता, उपादान ही प्रधान होता है। उपादान स्वयं निमित्त बना भी लेता है।

मूल प्रश्न यह है कि ऐसे आर्त लोगों को क्या समाधान देना? वे लोग आस लगाकर आते हैं कि साधु-सन्यासी साधनाशील होते हैं, उनसे कोई न कोई समाधान अवश्य मिलेगा। इस पर जब विचार करते हैं तो एक तरफ उनका आर्तभाव अन्तर-करुणा को उत्प्रेरित करता है तो दूसरी तरफ सिद्धान्त गृहस्थ की झंझटों से साधु को दूर रहने का निर्देश देता है। ऐसी स्थिति में संत क्या करे, यह एक महत्वपूर्ण चिंतनीय प्रश्न है। एक तर्क यह भी आता है कि उस अवस्था में यदि उसे कोई सम्बल नहीं मिले तो वह इधर-उधर डोलायमान भी हो सकता है। एक व्यक्ति श्रद्धा से विचलित होता है तो वह अनेक लोगों को श्रद्धा से भ्रष्ट करने वाला बन सकता है। समाधान के रूप में उसे मंत्रादि प्रयोग बता भी दें तो वह श्रद्धा में बना रहेगा, यह कैसे माना जाए? मंत्रादि प्रयोग मोक्ष मार्ग नहीं है, उस पर यदि किसी की श्रद्धा, विश्वास बनता है तो वह सम्यक् मार्ग पर चलेगा, यह भी नहीं कहा जा सकता। उसका सुन्दर समाधान यह है कि उसे तत्त्वावबोध दिया जाना चाहिए, जिससे वह सत्य मार्ग पर अटल एवं अविचल बना रहे। उसे भगवान के उपदेश **अप्या कत्ता-विकत्ता य** आदि के माध्यम से तत्त्वावबोध में पारंगत करना चाहिए। यद्यपि यह राह कठिन है, किन्तु उसे सुगम बनाया जा सकता है। तत्त्वावबोध केवल रुक्ष उपदेश रूप ही नहीं होता। उसे सरल व सरस भी बनाया जा सकता है। तत्त्वावबोध ही वह अचूक उपाय है, जो सदा-सर्वदा उसे धर्म-मार्ग पर अविचल बनाए रख सकता है।

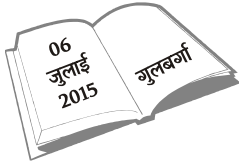


क्रियाओं के साथ भाव शुद्ध करें



धर्म शब्द सुनने में बड़ा अच्छा लगता है, पर धर्म क्या है? उसे जानने समझने वाले बहुत कम हैं। हजारों-लाखों वर्षों की यदि समीक्षा करें, तो धर्म का पालन करने वालों, धर्म की क्रियाएं करने वालों की संख्या कम नहीं थी, किन्तु धर्म को समझने वाले सदा कम रहे हैं। धार्मिक क्रियाएं सदा साज-सजाने के रूप में होती हैं, पर ध्यान रहे कि साज-सजाना ही संगीत नहीं है। संगीत उससे भिन्न है। यदि कोई साज-सजाने को ही संगीत मान ले तो वह कभी संगीत पैदा नहीं कर सकता है। साज संगीत के लिए सजाया जाता है, न कि साज को ही संगीत मान बैठने के लिए। साज कितना भी सुंदर तरीके से सजाया गया है, पर यदि संगीत पैदा न हो तो वह साज व्यर्थ है। जमीन कितनी भी बढ़िया हो पर यदि फसल न दे तो किस काम की। गाय डील-डौल में कितनी ही सुंदर-सुघड़ हो, पर दूध न दे तो उसका क्या मूल्य? इसी प्रकार जो धर्म-क्रियाएं आत्म-शान्ति न दे सकें, जिनसे आत्म-समाधि पैदा न हो तो वे धर्म-क्रियाएं किस काम की? धर्म क्रियाएं करते हुए भी यदि उपर्युक्त लाभ नहीं मिल रहा हो तो समझना चाहिए की साज सही नहीं सजाया गया है। कहीं न कहीं कोई भूल अवश्य है। धर्म है अहिंसा, धर्म है समता-वीतरागता। एक व्यक्ति उपवास नहीं कर पाता पर कषाय नहीं करता, समभाव में रहता है तो वह मुक्ति का अधिकारी माना गया है, किन्तु जो उपवास-बेला-तेलादि लम्बी तपस्याएं करने के साथ क्रोधादि कषायों पर जय नहीं पा सके, उल्टा गर्व करे कि मैं तपस्वी हूं, तो वह मुक्त नहीं हो सकता। मुक्ति के लिए आवश्यक शर्त है-अकषायी होना, क्रोध-मान-माया-लोभादि से मुक्त होना। कहा भी है-
‘कषाय मुक्तिः किल मुक्ति रेव’ धर्म-क्रियाओं पर आज जितना ध्यान दिया जा रहा है, उतना अकषाय-भाव पर ध्यान नहीं दिया जाता। कषाय जय पूर्वक धर्म क्रियाएं होनी चाहिए। या यूँ कह दें कि जो क्रियाएं अकषायी बनाएं, अहिंसक बनाएं, समभावी बनाएं, वे ही सार्थक हैं। अतः धर्म क्रियाओं के साथ भाव विशुद्धि की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए, अन्यथा वह धर्म क्रियाएं केवल औपचारिक रह जाएंगी। उनसे विशेष लाभ-मुक्ति का लाभ नहीं मिल सकेगा।





वाद करें, विवाद नहीं



वाद से ज्ञान बढ़ता है और विवाद से ज्ञान की हानि होती है। ज्ञान बढ़ने या घटने का तात्पर्य आत्म-समाधि भावों से घटित करना चाहिए। आत्म-समाधि बढ़े तो समझना चाहिए कि ज्ञान बढ़ा है। यदि समाधि घटे तो समझना चाहिए कि ज्ञान की हानि हो रही है। विवाद में वाद का भाव गौण हो जाता है। वहां गर्व-अहंकार मुखर हो जाता है। जहां गर्व खड़ा हो जाता है, वहां ज्ञान वृद्धि नहीं हो सकती। गर्व के समय जिज्ञासा वृत्ति गौण हो जाती है। अपनी बात की पकड़ बढ़ जाती है। इससे उस समय सत्य क्या है, तथ्य क्या है, उसे जानने-समझने के बजाए अपनी समझ को ही बनाए रखने की भावना प्रबल रहती है। परिणामस्वरूप उस समय तत्त्व को ग्रहण नहीं किया जा सकता।

विवाद में कुटिलता एवं कलुषित भावों की भी प्रबलता बन जाती है। उस समय विपक्ष पर येन-केन-प्रकारेण जय पाने की वृत्ति बन जाती है। उस जय पाने की दृष्टि से सत्य-तथ्य दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। सत्य की तरफ दृष्टि जाती ही नहीं है। ऐसी स्थिति में वह सत्य को कैसे प्राप्त कर पाएगा? अर्थात् नहीं कर पाएगा। अतः वाद करते हुए ध्यान रखा जाए कि वह विवाद का रूप न ले ले, क्योंकि कई बार वाद ही विवाद का रूप लेता है। विवाद यानि आग्रह बुद्धि। आग्रह बुद्धि आते ही वाद वहां से गौण होने लगता है। वाद के लक्षण समाप्त होने लगते हैं और वाद, विवाद बन जाता है। वाद के समय जागरुकता बनी रहती है। विवाद में जागरुकता का स्थान उन्माद ले लेता है। उन्माद भी एक नशा है। होश के बिना जोश है। जिस जोश में होश बना रहता है, वह जागरुकता है। जिस जोश में होश न रहे वह उन्माद है। विवाद में उन्मत्तता आ जाती है। इसलिए वादकर्ता को बहुत संभलकर रहना चाहिए कि वाद, विवाद के दायरे में न चला जाए। सीता का पैर लक्ष्मण रेखा से बाहर होते ही उनका हरण हो गया। वैसे ही वाद के दायरे से बाहर जाते ही विवाद का दायरा प्रारंभ हो जाता है और हमारे ज्ञान का, आत्म-समाधि का हरण हो जाता है। इसलिए ध्यान रखो कि वाद, विवाद का रूप न ले ले। यदि अन्तर मन से विचार करते रहेंगे तो विवाद से बच सकते हैं।

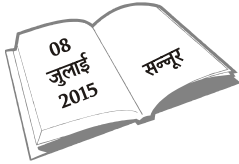




अंक नौ होते हैं, यथा एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात, आठ, नौ। पांच का अंक इनके मध्य में होता है। पांच में चार, छः में तीन, सात में दो और आठ में एक मिलाने पर नौ-नौ के चार थोक बन जाते हैं। नौ की संख्या का एक थोक और मिलाने से नौ-नौ के पांच थोक बन जाते हैं। इस दृष्टि से पांचवें थोक में सर्व अंकों का समावेश हो जाता है। पांच को देहली दीपक भी कहा जा सकता है। पांच की आंख अपने से नीचे अंकों पर भी रहती है एवं अपने से ऊपर के अंकों पर भी। दोनों तरफ उसकी दृष्टि बराबर रहती है, अर्थात् पांच का अंक निष्पक्ष है। शायद इसलिए ही कहा गया है कि पंचायती पांच की। यानी पंच पांच होने चाहिए। पांच होंगे तो निष्पक्ष न्याय मिलेगा। महाव्रतों की संख्या भी पांच है, अर्थात् आचरण के सूत्र भी पांच ही हैं। पांचों का आचरण जीवन की समग्रता है। इन पांचों का आचरण करने से पंचम ज्ञान प्रकट होता है। पंचम गति प्राप्त होती है। इस प्रकार से जब विचार करते हैं तो पांच के अंक की करामात स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि ज्ञान में उससे आगे कोई ज्ञान नहीं होता। पंचम गति के बाद कोई गति नहीं होती। इतना ही नहीं हमारे आराध्य भी पांच ही हैं-पंच परमेष्ठी-अरिहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय एवं साधु। इन पांच पदों की जो आराधना कर ले तो अन्य कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता है। पांच पदों की आसेवना करने के चार सूत्र हैं - ज्ञान-दर्शन-चारित्र और तप। पांच पदों में सिद्ध पद साध्य है, इसलिए साधना के पद चार ही हैं एवं आसेवना के सूत्र भी चार। साधु ज्ञान का प्रतीक है। उपाध्याय दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं। प्रश्न होगा वे तो ज्ञान के अध्येता माने जाते हैं। उन्हें दर्शन का प्रतिष्ठापक कैसे माना जाए? इसका समाधान यह है कि ज्ञान से ही दर्शन की विशुद्धि होती है, जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा गया है “तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्” तत्त्वों का ज्ञान होगा, तभी उन पर श्रद्धान हो पाएगा। अतः उपाध्याय दर्शन के प्रतिष्ठापक हैं। आचार्य चरित्र के अधिष्ठाता हैं एवं तप से अरिहंत पद की निष्पत्ति होती है। तप इच्छाओं का निरोध है। इसमें वीतरागता की तरफ प्रयाण होता है, इसलिए तप से अरिहंत पद की निष्पत्ति कही गई है। इस प्रकार पांच के अंक की करामात को समझें, विचारें एवं आचरें।

टिप्पणी - 'पढमं नाणं तओ दया' ज्ञान को प्रधान मूल माना है। इसी प्रकार पंच परमेष्ठी में साधु-साधुता मूल है।





उन्नति के पांच सूत्र

8

उन्नति के लिए सबसे पहले यह देखना चाहिए कि हममें **आत्मविश्वास** कितना गहरा है। बिना आत्मविश्वास के छोटा-सा कार्य भी सम्पन्न हो पाना कठिन है। जिसमें आत्मविश्वास लबालब भरा होता है, वह द्रुत गति से कार्य करता है। उसे कोई भी कार्य दुरूह नहीं लगता। कहा जाता है कि आत्म-विश्वासी व्यक्ति आसमान से तारे भी तोड़कर ला सकता है।

उन्नति के लिए दूसरी आवश्यकता है, **ऊंची सोच**। सकारात्मक सोच वाला व्यक्ति ही ऊंचा सोच सकता है। सकारात्मक सोच वाला ऊंचा सोचे ही, यह जरूरी नहीं पर ऊंची सोच सकारात्मक सोच वाले में ही हो सकती है। ऊंची सोच होगी तभी वह ऊंचाइयों को छू सकता है। यदि सोच ही ऊंची नहीं होगी तो वह ऊंचा कैसे उठ पाएगा। अतः स्पष्ट है कि जैसे लता सहारे से ऊंची उठती है, वैसे ही विचारों की ऊंचाई से उन्नति को वरा जा सकता है।

उन्नति के लिए तीसरा जरूरी अंग है - **नेटवर्क**। कहा जाता है अकेला चना भांड नहीं फोड़ सकता। वैसे ही अकेला व्यक्ति एक सीमा तक ही कार्य कर सकता है। यदि नेटवर्क अच्छा हो, मजबूत हो तो कार्य आसानी से सम्पन्न हो सकता है। मोबाइल फोन कितना भी कीमती हो, यदि नेटवर्क नहीं हो तो ठप्प हो जाता है। यह बात अलग है कि उत्साही व्यक्ति के साथ अनेक व्यक्ति जुड़ जाते हैं। शुरू में भले ही वह अकेला हो, किन्तु एक समय आता है उसके हाथ मजबूत करने को सैकड़ों हाथ तैयार हो जाते हैं।

उन्नति के लिए जो चौथी जरूरी बात है, वह है - **योग्य व्यक्तियों का चयन**। यदि केवल भीड़ इकट्ठी हो जाए, किन्तु योग्यता वाले लोग नहीं हो तो हो-हल्ला तो हो सकता है, पर काम नहीं हो पाता। इसलिए योग्य व्यक्तियों का चयन एवं उनकी रुचि व योग्यतानुसार उन्हें कार्य में नियोजित करना, उन्नति की दिशा में ले जाता है।

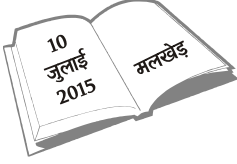
उन्नति के लिए पांचवी आवश्यकता है - **उत्साह**। कहा जाता है कि आधा काम तो व्यक्ति के उत्साह से ही सम्पन्न हो जाता है। ये पांचों जहां हो वहां उन्नति को कौन बाधित कर सकता है? कोई नहीं।





आत्मानुशासन मुख्य है या समुदाय का अनुशासन, यह एक विचारणीय बिन्दु है। इस पर विचार होना जरूरी है। अध्यात्म आत्मनुशासन की ओर इशारा करता है। वह कहता है 'अप्या चव दमेयव्वो' इसी प्रकार 'वरं मे अप्या दंतो' ये सूत्र दर्शाते हैं कि स्वयं को ही अनुशासित किया जाए। अपने आपको अनुशासित करो। जबकि व्यवस्था समुदाय के अनुशासन को महत्व देती हुई नजर आती है। दोनों के अपने-अपने तर्क हैं। किसका तर्क सशक्त है, किसका कमजोर, इसका निर्णय सहसा नहीं दिया जा सकता है। रूपए का कौन-सा पक्ष महत्वपूर्ण है, इसका क्या उत्तर होगा? यही न की दोनों पक्ष जरूरी है। ठीक इसी प्रकार दोनों प्रकार के अनुशासन की जरूरत होती है, अन्यथा आत्मानुशासन के नाम पर अनिष्ट स्थितियां पनपती जाएंगी। परिणामस्वरूप 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' जैसी स्थिति बनते देर नहीं लगेगी। भयंकर आपाधापी के कारण अव्यवस्था इतनी फैल जाएगी, जिसे नियंत्रित कर पाना वश के बाहर की बात हो जाएगी। अतः दोनों प्रकार के अनुशासन जरूरी हैं। आत्मानुशासन के बिना समुदाय का अनुशासन फलीभूत नहीं होता। वह औपचारिक बन कर रह जाएगा। वह मात्र लोक दिखावे का रूप बनकर रह जाएगा। लोगों को दिखाने के लिए अनुशासन के ढोल-नगाड़े बजाए जाएंगे, किन्तु भीतर ही भीतर अनुशासनहीनता का लावा सुलगता रहेगा। वह कब फूट पड़े, कुछ भी नहीं कहा जा सकता। आत्म-समाधि, आत्मानुशासन से ही आ पाती है। बाह्य अनुशासन हमें बाह्य सुरक्षा तो देता ही है, साथ ही आत्मसमाधि के लिए प्रेरित भी करता है। वह फिसलते हुए पांवों को थामने वाला भी होता है। उससे बाह्य व्यवस्थाएं समीचीन बनी रहती हैं। आत्मानुशासित व्यक्तियों को सामुदायिक अनुशासन कभी अखरने वाला नहीं होता, अपितु उन्हें वह भी सुकून देने वाला ही होता है। उससे वे स्वयं को सुरक्षित मानते हैं। किन्तु अनात्म-शासित व्यक्तियों के लिए सामुदायिक अनुशासन अत्यन्त कष्टप्रद होता है। समुदाय में रहते हुए वे स्वयं को कारागार में पड़े अपराधी के समान मानते हुए दुःखभरा जीवन जीते रहते हैं। अतः आत्मानुशासन से स्वयं को शासित रखते हुए समुदाय की व्यवस्थाजन्य अनुशासन को सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।





मनोमल विशोधकम्

10

तन की शुद्धि जल से होती है। वस्त्र की शुद्धि के लिए भी जल का प्रयोग किया जाता है। प्रश्न होता है कि जल यदि दूषित हो जाए तो उसका शोधन कैसे होगा? यद्यपि ऐसा प्रश्न इस वैज्ञानिक युग में उठना कम संभव है, क्योंकि प्रायः लोग जानते हैं कि फिल्टर मशीन से पानी को फिल्टर कर लिया जाता है। फिर भी चूंकि प्रश्न तो प्रश्न ही है, अतः कभी भी किसी के भी अन्तस् में उठ सकता है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो गई कि सबका शोधक पानी नहीं है। कुछ ऐसे भी पदार्थ होते हैं, जिनका शोधक जल नहीं होता है। स्वयं पानी का शोधन भी पानी नहीं होता। उसका शोधन क्षार पदार्थों से होता है। पुराने समय में कोयला, राख आदि से भी शोधक किया जाता था। वर्तमान में फिटकरी, चूना आदि पदार्थ उपयोग में लिए जाते हैं। शक्कर की चासनी बनाते समय उसका मैल हटाने के लिए दूध का प्रयोग होते हुए भी देखा गया है। इस तरह विभिन्न पदार्थों का शोधन भिन्न-भिन्न तरीके से होता है। शरीर के भीतरी भाग का शोधन आयुर्वेद पद्धति में वमन-विरेचन एवं प्रस्वेदन से किया जाता है। योग पद्धति में भस्त्रिका आदि प्रयोगों को भी शोधक के रूप में जाना जा सकता है। शोधन से एक बात स्पष्ट होती है कि स्व-स्वभाव में जब विकार आ जाए, तब उसको दूर करना ही शोधन है। जो शुद्ध हो, उसे शोधन करने की आवश्यकता नहीं रहती। शोधन उन्हीं का किया जाता है जो दूषित हो गए हों। हमारा मन भी ईर्ष्या-डाह आदि से मैला बना हुआ है। क्या उसका भी शोधन होता है? क्या उसका शोधन हो सकता है? निश्चित रूप से हो सकता है, पर उसका शोधन किन्हीं बाह्य वस्तुओं से नहीं हो पाएगा। उसे शोधित करने के लिए परमात्म-स्तवन जरूरी है। ईश स्तुति मन के शोधन में सर्वश्रेष्ठ है। शुद्ध बना हुआ मन ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य का बोधिलाभ देने वाला होता है। मनः शुद्धि के बिना अध्यात्म क्रियाएं सम्यक् प्रकार से सम्पन्न हो ही नहीं पाती। अतः मन का शोधन होना ही चाहिए। आलोचना, निन्दा व गर्हा भी मन के शोधक हैं, किन्तु ईश-स्तुति से ऐसा शोधन होता है, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। इसी संदर्भ में एक कवि ने बड़ी सुंदर बात कही है - 'मनोमल विशोधकम्' अर्थात् प्रभु का सुमिरन मन के मेल का विशोधक है।

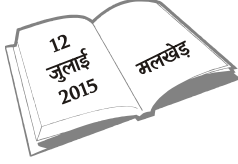


न्याय के नाम पर अन्याय न हो।



एक समय था जब राजाओं का राज था। तब न्याय भी राजाओं के हाथ में होता था। उस समय राजाओं की इतनी साख थी कि वे दूध का दूध और पानी का पानी रूपी न्याय करते थे। धीरे-धीरे सत्ता के मद से न्याय प्रभावित होने लगा तो न्यायपालिका का जन्म हुआ। प्रजातंत्र में राज और न्याय दोनों अलग-अलग हो गए। राज प्रजा द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के हाथ में आ गया। न्याय के लिए अलग से स्वतंत्र व्यवस्था की गई। राजाओं के राज में पक्ष ही हुआ करता था, किन्तु जनतंत्र में पक्ष के साथ विपक्ष भी होता है। ऐसी स्थिति में न्याय प्रणाली को स्वतंत्र रखना जरूरी हो गया, ताकि राजकीय पक्ष, विपक्ष का गला न घोट सके। वर्तमान में जो न्याय-प्रणाली चल रही है वह कितनी निर्दोष है, यह समाचार-पत्रों आदि से आए दिन प्राप्त होने वाली जानकारी से स्पष्ट है। न्याय पर सत्ता या किसी प्रकार का दबाव हो तो निष्पक्ष न्याय की संभावनाएं क्षीण हो जाती हैं। इसी प्रकार न्याय में अनपेक्षित विलम्ब होना भी उचित नहीं है। उससे हंस चोंच की तरह न्याय हो जाएगा, यह विश्वास नहीं किया जा सकता। न्याय की प्रक्रिया त्वरित होनी चाहिए। साथ ही यदि स्थानीय स्तर पर न्याय की व्यवस्था हो तो उसमें सच्चाई को स्पष्ट होने में ज्यादा सुविधा हो सकती है, क्योंकि स्थानीय व्यक्ति, व्यक्ति के स्वभावादि से परिचित होते हैं। वे अपराध को जितनी आसानी से भांप सकते हैं, उतनी आसानी से सैकड़ों-हजारों किलोमीटर की दूरी पर बैठने वाले न्यायाधीश महोदय नहीं जान सकते। यद्यपि कागजों के आधार पर वे जानने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु अनेक ऐसी घटनाएं जनता के समक्ष हैं जिसमें नकली कागजों के आधार पर न्यायपालिका से मनोवांछित निर्णय प्राप्त कर मूछों पर ताव रखने जैसी स्थितियां बनी हैं। अतः न्याय का महत्त्व न्याय पर सत्ता का प्रभाव न होने से एवं उसमें विलम्ब न होने से रहता है। न्याय वैर की गांठ बंधाने वाला न होकर स्नेह-सरिता बहाने वाला होना चाहिए। ऐसी न्याय प्रक्रिया कब हो पायेगी, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर हाँ! इससे पूर्व कम से कम न्याय के नाम पर अन्याय भी रुक गया तो न्यायालय और न्यायाधीश के नाम सार्थक हो जाएंगे। इसके लिए जरूरी है कि सत्ता व अर्थ-लाभ के दबाव से न्याय प्रक्रिया मुक्त रहे।





करणीय के प्रति निराश न हों



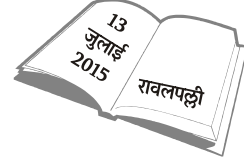
नीति में एक बात कही गई है 'प्रथम: ग्रासे मक्षिका पाते:' पहले ही कौर में मक्खी का आ जाना। इससे कुछ लोग निष्क्रिय हो बैठ जाते हैं। वे सोच लेते हैं कि पहला कदम ही सही नहीं रहा तो आगे क्या करना, जबकि सकारात्मक सोच वाले विचार करते हैं कि प्रथम ग्रास में मक्खी गिर गई तो सारे कवलों में मक्खियां गिरती ही रहेंगी, यह नहीं होता। पहला पांव अटक गया, तो अब चलना ही नहीं यह कोई तर्क नहीं होता। प्रथम ग्रास में मक्खी आ गई तो अब भोजन करना ही नहीं, ऐसा नहीं होता। जिस ग्रास में जब-जब मक्खी आ जाएगी, उसे छोड़ा जा सकता है पर सारे भोजन को नहीं छोड़ा जा सकता। वे सम्यक् सोच के बल से, त्रुटि को सुधारने एवं उससे शिक्षा लेने का प्रयत्न करते हैं। वे जानने का प्रयत्न करते हैं कि मक्खी भोजन में क्यों गिरी? जरूर हमारी असावधानी ही रही है। अब से हम सावधान रहें। वे भोजन करते वक्त सावधान हो जाते हैं। हाथ आदि से मक्खियां उड़ाते रहते हैं, जिससे वे भोजन पर बैठ नहीं पाती और न ही वे खाने के ग्रास में ही आ पाती है। अतः 'प्रथम: ग्रासे मक्षिका पाते:' से हताश होकर नहीं बैठ जाना चाहिए, अपितु उसमें जो असावधानी हुई है, उसमें सुधार लाते हुए शिक्षा लेनी चाहिए एवं आगे के कार्य को और विशेष सजगता के साथ सम्पन्न करने का लक्ष्य बनाना चाहिए। एक बार ठोकर खाने वाला अब चल ही नहीं सकता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। अतः विचार करना चाहिए कि आज की सफलता कल प्राप्त होने वाली सफलता की सीढ़ी है।

यदि सिद्धान्त की दृष्टि से विचार करें तो जीव अनेक बार 'यथाप्रवृत्तकरण' को कर लेता है पर 'अपूर्वकरण' नहीं कर पाता। लेकिन 'अपूर्वकरण' करने वाला तो यथाप्रवृत्तकरण करता ही है। इससे स्पष्ट है कि आज नहीं तो कल, सफलता मिलेगी। तू हिम्मत मत हार। 'हिम्मत-ए-मर्दा, मदद-ए-खुदा' इस बात को ध्यान में रखते हुए करणीय के प्रति निराश न हो।



13

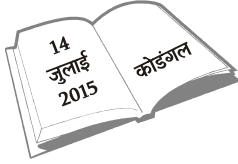
सामर्थ्य जगाने का सूत्र



जिम्मेदारी व्यक्ति को जवाबदेह बना देती है। यह बात जितनी सत्य है उतना ही सत्य है कि जिम्मेदारी ऐसे व्यक्ति को ही सौंपी जाए जो जिम्मेदारी के योग्य हो। यदि अयोग्य व्यक्ति को जिम्मेदारी सौंपी गई तो वह उसका परिणाम उस रूप में आना कठिन है। उसका कारण उसकी अयोग्यता है। यदि अयोग्य नहीं होता तो वह जवाबदेह बनता। प्रश्न हो सकता है कि योग्य किसे माना जाए? जो जिम्मेदारी का अहसास करे, वह योग्य है। जिम्मेदारी का अहसास होने का अर्थ है – उसे यह लगे कि उसे जवाब देना है। जो यह समझ लेता है कि उसे जवाब देना है तो उसे जो कार्य सौंपा जाता है वह उसमें अपनी शक्ति को नियोजित कर देता है। जब व्यक्ति अपनी शक्ति को समझपूर्वक कार्य संयोजन में नियोजित कर देता है, तब उस कार्य के सम्पादित होने में क्या संशय किया जा सकता है? उस कार्य को सम्पादित होना ही है।

सबकी कार्य क्षमता एक समान नहीं होती, किन्तु 'करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान' के अनुसार व्यक्ति अपने सामर्थ्य को बढ़ा सकता है। उसके लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादि की नितांत आवश्यकता है, अर्थात् उसके पास साधन हों, कार्य के लिए उपयुक्त क्षेत्र हो, समय हो, समझ हो एवं उसकी भावना हो। कई बार ऐसा भी लगता है कि योग्य व्यक्ति समझकर जिसे जिम्मेदारी सौंपी गई, उसके यथेष्ट परिणाम प्राप्त नहीं हुए। इसका क्या कारण हो सकता है? उसका कारण व्यक्ति का अतिविश्वासी होना भी है। जो अति-विश्वास में चला जाता है, वह समय पर कार्य नहीं कर पाता। वह सोचता है अभी समय है, जल्दी क्या है? समय पर सारा कार्य हो जाएगा। इस सोच के कारण वह समय पर कार्य नहीं कर पाता। जिससे वह जवाब देने में समर्थ नहीं हो पाता। व्यक्ति को आत्म-विश्वासी होना चाहिए, किन्तु अति-विश्वासी नहीं, अर्थात् विश्वास इतना अति न हो कि व्यक्ति समय का मूल्य ही न समझ सके। अतः यदि किसी के भीतर रहे सामर्थ्य को जगाना हो तो उसे जवाबदेह बना देना उचित उपाय है।



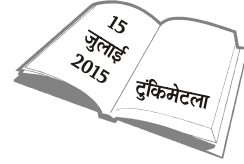


जो मन को पवित्र करे वह दान



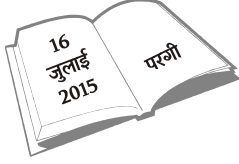
दान एक पुण्य कर्म, यानी अच्छा कार्य है। श्रीमत्स्थानांग सूत्र में दान के अभयदान, सुपात्रदान आदि कई भेद बताए गए हैं। दान को पुण्य कर्म कहने का तात्पर्य यह है कि उससे आत्मा पवित्र होती है। जैसा कि कहा गया है – ‘पुनाति पवित्रीकरोति आत्मानमिति पुण्यम्’ जो आत्मा को पवित्र बनाए, वह पुण्य होता है। दान के समय अध्यवसाय शुभ, पवित्र रहते हैं, इसलिए दान को पुण्य कर्म माना गया है। दान की परिभाषा ऐसे भी की जाती है कि – ‘दीयते-इति दानम्’ जो दिया जाता है वह दान है, किन्तु ऐसे दान से मन पवित्र ही हो जरूरी नहीं है। जिस दान से मन पवित्र होता है वही पुण्य कर्म के रूप में मान्य हो सकता है। एक पिता पुत्र को व्यापार के लिए रकम देता है। बेटी को दहेज आदि रूप में धन देता है, वह भी दिए जाने के न्याय से तो दान ही है, पर ऐसा दान मन को पवित्र बनाने वाला नहीं हो सकता। इसी प्रकार सामाजिक कार्यों में लोग लाखों-करोड़ों का दान देते हैं, किन्तु उसके बदले में नाम, यश आदि की भावना होती है, तो वह दान भी मन को पवित्र बनाने वाला होना कठिन है, क्योंकि उसमें स्वामित्व का भाव बना रहता है। दान देते हुए देने वाले का मन कितना उल्लसित है, वह दान देकर कितना हर्ष-विभोर हो रहा है, उसी के आधार पर उसके मन की पवित्रता को आंका जा सकता है। ऐसी भावना निष्काम भाव से दिए जाने वाले दान में ही आ पाती है, जो अभयदान सुपात्रदान अथवा अनुकम्पा दान के समय ही संभव है। जिस दान के बदले में दाता स्वयं कुछ चाह रख रहा हो उसमें उतने उच्च भाव नहीं आ पाते, क्योंकि वहां दाता के मन में उसके बदले में कुछ चाह बनी हुई है। ऐसी स्थिति को आदान-प्रदान कहा जा सकता है। उसे एक प्रकार का व्यवसाय भी कहा जा सकता है। अतः स्पष्ट है कि वह दान मन को पवित्र बनाए, ऐसी भावना बन नहीं पाती। अर्थ दान भी उसी अवस्था से मन को पवित्र बना सकता है, जिसमें न आदान-प्रदान की भावना हो और न ही मन में गर्व हो कि मैं इतना दान देता हूँ।





पांव फिसल जाए, कोई बात नहीं है। लक्ष्य नहीं फिसलना चाहिए। पांव फिसलने पर गिर पड़ने वाला पुनः उठकर लक्ष्य की तरफ बढ़ सकता है, किन्तु यदि लक्ष्य फिसल गया, उसके बाद क्रिया चालू भी रहे तो वह विशेष लाभदायक नहीं होती है। विशेष क्या, वह लाभदायक होती ही नहीं है, ऐसा कहना भी अनुचित नहीं होगा। लक्ष्य फिसलने का अर्थ है – गन्तव्य को विस्मृत कर देना। जब गन्तव्य ही विस्मृत हो जाए तो वहां पहुंचेंगे कैसे? एक गाड़ी यदि चूक जाए तो दूसरी गाड़ी पकड़कर मंजिल तक पहुंचा जा सकता है, क्योंकि गन्तव्य उससे ओझल नहीं हुआ है। गन्तव्य उसे ज्ञात है, वह जानता है कि उसे कहां जाना है। इसलिए उद्देश्य को सदा लक्षित रखना चाहिए। साथ ही गति भी उसी दिशा में होनी चाहिए। रोड पर चलते हुए कई बार देखा जाता है कि सड़क घूम जाती है। जाना किस दिशा में है, वह अन्य ही दिशा की तरफ में घूम जाती है। उसका वह घूमना सहेतुक है, हो सकता है कोई गांव बीच में आ गया है अथवा वैसा ही कुछ कारण बन गया हो, इसलिए उसे घूमना पड़ा। किन्तु वह जाती पुनः उसी दिशा में है, जिधर उसे जाना होता है। इसी प्रकार कभी प्रमादादि कारणों से स्खलना हो जाए तो उस मार्ग से मन को विचलित नहीं होने देना चाहिए, अपितु उससे शिक्षा ले आगे बढ़ने का ही लक्ष्य रहना चाहिए। जीवन एक प्रवाह है। आज तक वह बहता रहा है। अधिकतर उसका प्रवाह लक्ष्य विहीन हुआ है। परिणामस्वरूप उसका भटकाव बना हुआ है। वह मंजिल की तरफ अग्रसर नहीं हो पाया है। उसमें इधर से उधर कई मोड़ आते रहे हैं। उन मोड़ों के अनुसार वह मुड़ता-बहता रहा है। किन्तु उद्देश्यहीन होने से मंजिल नहीं पा सका है। इसलिए पहले तय करो कि तुम्हारे जीवन का उद्देश्य क्या है? उसके बाद यदि कभी चलते हुए दिशा बदल भी जाए तो घबराने की आवश्यकता नहीं है। विश्वास रखो कि चाहे कितने भी मोड़ आए, आते रहें, मेरी मंजिल मेरे सम्मुख है। मेरी मंजिल मुझे ज्ञात है। अतः मंजिल की तरफ चलते हुए कभी पांव फिसल भी जाए तो विचार नहीं करें। उठें व पुनः मंजिल की तरफ बढ़ चले। देर भले ही हो जाए, पर पहुंचेंगे अवश्य।





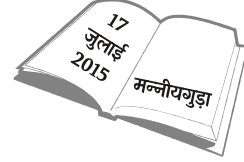
दुरुपयोग से बचें



किसी भी चीज का यूज (Use) उपयोग करना बुरा नहीं माना जाता, किन्तु मिसयूज (Missuse) कभी नहीं होना चाहिए। उपयोग का अर्थ है - आवश्यकतानुसार वस्तु को काम में लेना। दुरुपयोग उसके विपरीत है। जहां जिसकी आवश्यकता न हो वहां पर भी उसका उपयोग करना दुरुपयोग है। यदि कोई व्यक्ति भी है, कोई सुहृद्-मित्र भी है, तो उसका उपयोग भी अनावश्यक रूप से नहीं लिया जाना चाहिए। यदि जड़ वस्तु का दुरुपयोग किया जाता है तो आगम की भाषा में उसे अजीव काय असंयम कहा गया है। उसी वस्तु का आवश्यकतानुसार यतना से किया गया उपयोग संयम की श्रेणी में आ जाता है। समय के दुरुपयोग की चर्चा तो प्रायः सुनने में आती ही है। कहा जाता है कि जो समय का दुरुपयोग करता है वह स्वयं अपना दुरुपयोग कर रहा होता है। आगम में समय मात्र का भी प्रमाद नहीं करने का संकेत मिलता है। प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों कहा गया? प्रश्न कोई कैसा भी उठा सकता है। क्या प्रश्न यह नहीं उठना चाहिए कि किसी का दुरुपयोग क्यों किया जाता है? प्रश्न यदि दुरुपयोग के विषय में उठाया जाता है तो उत्तर स्पष्ट है कि दुरुपयोग में भावों की लापरवाही-अजागरुकता रहती है, जबकि उपयोग में जागरुकता की झलक है।

दूसरी बात जो समय व पदार्थों का सदुपयोग नहीं कर सकता, वह अपने जीवन का भी सही उपयोग नहीं कर सकता। जीवन कितना महत्त्वपूर्ण है, यह बात उसकी समझ में आना भी कठिन है। व्यक्ति जीवन को कितना जान पाया है, उसकी परख समय एवं पदार्थों के मूल्यांकन से की जा सकती है। जो समय के मूल्य को जानता है, वह जीवन के महत्त्व को भी जानेगा। जो जीवन के महत्त्व को जान लेगा, वह समय का दुरुपयोग कर ही नहीं सकता। वह एक-एक क्षण को सार्थक करना चाहेगा। यदि कोई अपनी आयु बढ़ाना चाहे तो यह संभव नहीं होगा, चाहे वह उसके बदले में कितना भी धन क्यों न दे दे? सिकन्दर महान के जीवन दर्शन से यह अच्छी तरह जाना जा सकता है। अतः किसी भी चीज का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए।



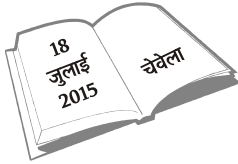


गुरु की आराधना-पूजा-भक्ति कैसे की जाए ? उनकी पूजा-भक्ति का स्वरूप क्या है ? ऐसी जिज्ञासा उत्पन्न हुई। उसका उत्तर भी आगमीय धरातल से प्राप्त हुआ। हमने अनेक मंदिरों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं को देखा होगा। भू-भाग पर वेदिका (चबूतरानुमा) होती है। उस पर प्रतिमा को प्रतिष्ठापित किया गया होता है। इसका तात्पर्य है कि जिसकी हम पूजा आराधना करते हैं, उनको उन्नत-ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठापित किया जाना चाहिए।

ऊंचे स्थान का आध्यात्मिक अर्थ है - हमारे विचारों में उन्हें ऊंचा स्थान दिया जाना चाहिए। वह उच्च स्थान हमारे से ऊपर होना चाहिए, उस स्थान का स्पर्श हमारा अहंकार न कर सके, वह स्थान उतना ऊंचा होना चाहिए, अन्यथा हमारा अहंकार उसे अपने लपेटे में ले लेगा। हम पूजा आराधना नहीं कर पाएंगे। गुरु को ऊंचे स्थान पर प्रतिष्ठापित करने के बाद तुम्हारे पास जो भी है, उन्हें अर्पित कर दो। तुम्हारे पास अपना कहने जैसा कुछ भी बचना नहीं चाहिए। इसी के साथ एक बात का और ध्यान रखना, गुरु से कुछ मांगना मत। मांगने से सम्बन्ध ही बदल जाता है। मांगने से याचक एवं दाता के भाव पैदा होते हैं। उससे गुरु-शिष्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है। आराध्य को मात्र अर्पित करना होता है, न कि याचना। याचना में आदान-प्रदान का भाव है। उससे न ही पूजा घटित होगी, न ही भक्ति। आदान-प्रदान समान स्तर से होता है। आराध्य को यदि समान स्तर पर ले आओगे तो उनकी पूजा, भक्ति कैसे कर पाओगे ? संभव ही नहीं है। तुम्हारी अर्पणा गुरु को उच्च पदस्थ बनाती है। तुम्हारी याचना उसे नीचा ला डालती है। अतः गुरु की पूजा-भक्ति-आराधना के लिए जरूरी है कि वे उच्च स्थानीय हों, उन्हें उच्च स्थान प्राप्त हो, वह भी तुम्हारे दिल में। ऐसा होते ही आराधना घटित हो जाएगी। जैसा कि श्रीमद्दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है -

‘णीयं सिज्जं गइं ठाणं, णीयं च आसणं तथा,
णीयं च पाए वंदिज्जा, णीयं कुज्जा य अंजलिं।’





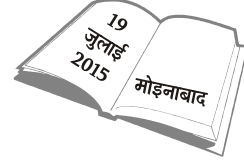
चाबुक की चाह नहीं करें



रावलपल्ली में जिस घर में रुके थे, उसके मालिक जमींदार हैं। बात ही बात में उसने बैलों की जोड़ी के संदर्भ में बताया, जिनकी कीमत साठ हजार व एक लाख बीस हजार बताई। उनकी खासियत यह बताई कि उन्होंने कभी भी मार नहीं खाई। यह विषय पिछले दो-तीन दिनों से मस्तिष्क में घूम रहा था। यह बात सामान्य नहीं है। मनुष्यों में भी ऐसे लोग कम ही मिलेंगे, जिन्होंने कभी डांट या मार नहीं खाई हो। बैलों में ऐसी खासियत होने का अर्थ है – वे कितने सधे हुए होंगे, सामान्य पशुओं से वे विलक्षण ही होंगे। बहुत सारे बैलों को मार खाते हुए देखा गया है। कई-कई बैल तो बेरहमी से पीटे जाते हुए भी देखे गए हैं। एक दिन पूर्व ही एक नए-नए बैल (बछड़े) को लोग बेरहमी से हांक रहे थे। वह टस से मस नहीं हो रहा था। मार खा-खाकर जैसे वह उसका आदी बन गया हो। उससे जब तुलना का प्रसंग बना तो आगम पाठ स्मृति में आ गया, जहां आकीर्ण घोड़ों व गलियार घोड़ों के वर्णन में बहुत स्पष्ट फर्क बताया है। आकीर्ण अश्व चाबुक की वांछा नहीं करते, पर गलियार घोड़े बिना चाबुक के चलने को तैयार ही नहीं होते। आगम-पाठ इनसे मुनियों की तुलना करते हैं कि कुछ मुनि-शिष्य ऐसे होते हैं जो गुरु के वचनों की चाह नहीं करते। यानी गुरु महाराज को कुछ भी उपालम्भ रूप कथन का अवसर नहीं देते। वे गुरु के मनोगत को गुरु के कहने से पूर्व ही पहचान कर कार्य सम्पादित कर लेते हैं, जबकि अनेक शिष्य ऐसे भी होते हैं जो गुरु महाराज के कहने के बावजूद शुभ-कार्यों में प्रवृत्त नहीं हो पाते हैं। ऐसे शिष्यों से गुरु महाराज खिन्न होकर दुःखी होते हैं, किन्तु आकीर्ण घोड़ों के समान जो शिष्य होते हैं वे विरल होते हैं। वस्तुतः वे बैल जिनका ऊपर कथन किया गया है, वे विरल हैं। हम मुनियों को भी उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए एवं मानव समाज को भी, कि वे क्या कर रहे हैं। यदि अब तक वे स्वयं को नहीं साध पाए हों तो स्वयं को उन बैलों की तरह साधें कि उनके अभिभावक भी प्रसन्न रहें एवं वह भी खुशहाल जिंदगी जी सकें। उन्हें अवसाद का सामना न करना पड़े।

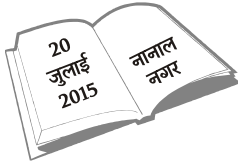


जो न हो वह हो नहीं सकता



वैराग्य भावना जगने पर व्यक्ति की प्रवृत्ति में भी अन्तर आ जाता है। प्रश्न होता है, जो कल तक नहीं था वह आज कैसे हो गया ? वस्तुतः जो हो ही नहीं तो हो नहीं सकता है। जो है उसके होने में आश्चर्य नहीं होता। अनहोनी होती है तो आश्चर्य होता है। प्रश्न का उत्तर प्रश्न में मौजूद है। माना जाता है कि ऐसा कोई प्रश्न नहीं होता, जिसका कोई उत्तर हो ही नहीं। उत्तर तो होता ही है। हो सकता है कि हमारी जानकारी में न हो। जानकारी में नहीं होना क्षमोपशम की मंदता दर्शाता है। जानना क्षयोपशम के आधार से होता है। यदि क्षयोपशम प्रबल हो तो वह विशेष बातों को भी विशिष्ट रूप से जान पाता है। अन्यथा सामान्य बात को भी नहीं जान पाता। यह सिद्धान्त है कि अस्तित्व-अस्तित्व रूप में परिणत होता है। वह नास्तित्व के रूप में परिणत नहीं हो सकता। इसी प्रकार नास्तित्व भी नास्तित्व रूप में बदलता है, वह अस्तित्व रूप में परिणत नहीं हो सकता। अतः कल तक जो न हो, वह आज भी हो नहीं सकता। होता वही है जो कल भी था व आज भी है और कल भी रहेगा। वैराग्य कल भी था। जो था वही आज बदलकर सामने आया है। कल वह राख के नीचे दबा हुआ था। आज वह प्रकट हो गया है। कल नहीं था ऐसी बात नहीं है। था तो कल भी, पर कल सत्ता में था। आवरण तले दबा हुआ था। आज वह प्रकट रूप में है। विद्युत प्रवाह तो मौजूद है, स्विच ऑन होने पर उसका प्रकट रूप प्रस्तुत हो गया। वैसे ही वैराग्य तो आत्मा का गुण है, वह उसमें है ही। अब तक वह दबा हुआ पड़ा था, अब प्रकट हो गया। इसलिए आश्चर्य होता है। कल वह उस रूप में नहीं है, जिस रूप में आज है। जिसका स्विच ऑन हो जाता है अर्थात् जो स्वीच को ऑन कर लेता है, उसके अन्तर में रोशनी पैदा हो जाती है। उससे वह अपने अस्तित्व को जानने लगता है। इसलिए उसके विचार एवं प्रवृत्ति में परिवर्तन हो जाता है। वह बदलाव वैसा ही होता है, जैसे अंधेरे में रोशनी हो जाना। लोगों ने पहले अंधेरा देखा था, प्रकाश नहीं। अब जब अंधेरे के स्थान पर आलोक देख रहे हैं, यही आश्चर्य है। अंधे को आंख मिलने पर उसकी प्रवृत्ति में अन्तर आएगा या नहीं आएगा ? बस ऐसा ही वैराग्य से संभव है।





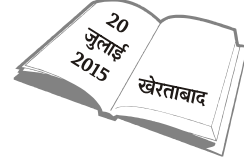
सावधान! अब चढ़ाई है



सुबह चांदनी गार्डन से विहार हो रहा था। भीतर से बाहर आते हुए चढ़ाई थी, क्योंकि गेट कुछ ऊंचाई पर था। उस समय विचार पैदा हुआ कि यह स्थान शादी-खाना है। विवाह आदि के लिए उपयोग में आता है। वर जब अन्दर आता है तो दरवाजे से उसे उतार से उतरना होता है। ढलान में आदमी आसानी से उतर सकता है। अभी शादी नहीं होने से वर बहुत जल्दी से फटाफट नीचे उतर जाता है। गति में तीव्रता रहती है, लेकिन विवाह होने के बाद जब वह बाहर आता है, तब दरवाजे की चढ़ाई उसे बोध कराती है-भाई! अब सम्भलकर चलना। जब तुम आए थे वह समय कुछ और था अब समय कुछ और है। पहले तुम जिम्मेदारी से मुक्त थे, अब तुम्हारे सिर पर जिम्मेदारी आ गई है। जिम्मेदारी सिर पर आती है तो एक प्रकार से वह भारभूत लगती है। यह बात अलग है कि उत्साही एवं उद्यमी व्यक्ति के लिए जिम्मेदारी निभाना उतना दुरुह नहीं होता, पर शुरुआती दौर में उसमें कठिनाई अवश्य आती है। शादी से पूर्व वह अपनी मर्जी का राजा था। अब उसकी मर्जी के साथ दूसरे की मर्जी भी जुड़ गई है। उसे दूसरे की मर्जी को समन्वित करना होता है। अब केवल अपनी मनमर्जी से नहीं चला जा सकता। दूसरे की मर्जी के साथ अपनी मर्जी को जोड़कर चलना हर किसी के वश की बात नहीं है।

इस मायने में 'गृहस्थी' भी बहुत बड़ी साधना है। वहां अनेक व्यक्तियों की मर्जी को ध्यान में रखकर चलना होता है। पारिवारिक जिम्मेदारी का निर्वाह करते हुए कई बार अपनी मर्जी को गौण करना पड़ता है। तभी व्यक्ति पारिवारिक और सामाजिक जिम्मेदारी का निर्वहन कर सकता है। अन्यथा परिवार, समाज में क्लेशकारी वातावरण बनने की पूरी संभावना रहती है। जो जिम्मेदारी की चढ़ाई चढ़ लेता है, वह बाजी मार लेता है। फिसल जाने वाले की क्या हालत होती है, वह सुविज्ञात है। उसके लिए कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है। अतः जीवन में हर वक्त संभलकर चलना अच्छा होता है। लेकिन जवाबदारी की चढ़ाई चढ़ने में विशेष सावधान रहना जरूरी है। इसे भूलें नहीं।

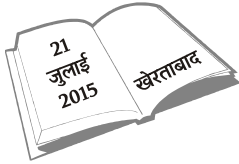




पूरे विश्व में भारत देश श्रेष्ठ है, क्योंकि यह आर्य देश है। यद्यपि पूरा भारत भी पूरा आर्य देश नहीं है। इसका भी काफी हिस्सा अनार्य रूप में विद्यमान है। फिर भी आर्यत्व है, तो प्रधानतया भारत में ही है। यही कारण है कि जितने भी तीर्थंकर आदि उत्तम पुरुष पैदा हुए, वे इसी भू-भाग पर हुए। चक्रवर्ती आदि भी इसी जमीं पर जन्मे। भारत भूमि वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है। जो महत्त्व इस भूमि को प्राप्त है, वह अन्य को नहीं है। अन्य देश, राष्ट्र, धन-दौलत आदि से सम्बद्ध हो सकते हैं, एज्युकेशन में भी भारत से बढ़-चढ़कर हो सकते हैं, किन्तु भारत में जो खासियत है वह उनमें नहीं है। यहां का कण-कण सत्य-अहिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेम-भाईचारे की मिसाल अन्यत्र दुर्लभ है। 'हिन्दू-मुस्लिम-सिख-इसाई, आपस में सब भाई भाई।' यह दृष्टि भारत के अलावा और कहां मिलेगी? उदारतादि के दर्शन भी भारत में ही होंगे। अन्य देशों में कोई-कोई अपवाद हो सकता है, वह उसकी व्यक्तिगत स्थिति है, वहां की भूमि के वे संस्कार नहीं कहे जा सकते।

जैसे सारे राष्ट्रों-देशों में भारत सर्वश्रेष्ठ है, वैसे ही सारे धर्मों में जैन धर्म सर्वोत्तम है। उसमें जो अहिंसा-सत्यादि का स्वरूप बताया गया है, वह अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। जैन धर्म आत्मानुशासन का पाठ पढ़ाता है। वह कहता है कि तुम शक्ति सम्पन्न बनो, किन्तु उस पर तुम्हारा नियन्त्रण रहना चाहिए। वह शक्ति निरंकुश न हो, शासित हो। क्षमा उस शक्ति को शासित करती है। यदि एक हाथ में तलवार है तो दूसरे हाथ में क्षमा भी होना जरूरी है, अन्यथा तलवार अंकुश रहित हो जाएगी। जैसा कि आज विश्व क्षितिज पर आई. एस. आई. एस. आदि संगठनों का स्वरूप उभरा हुआ है, निरंकुश शक्ति तांडव खड़ा कर देती है। दूसरी बात जैन धर्म कहता है-तुम ही तुम्हारे नाथ हो। अनाथ भी हो तो तुम अपने कर्मों-कार्यों से। वह कहता है कि तू कहीं भी हाथ मत पसार। अपने पुरुषार्थ को जगा। ऐसी आत्मनिष्ठ जीवन-शैली की शिक्षा का उद्गम जैन धर्म से ही हुआ है। अतः इससे बढ़कर श्रेष्ठता अन्यत्र नहीं मिल पाएगी। मैं जैनी हूँ, इसलिए मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ।





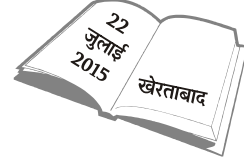
अपना रूप सम्हाल

22

तुम जो हो वह नहीं हो। तुम उससे भिन्न हो। तुम कितना ही स्वयं को छिपाओ, छिप नहीं पाओगे। तुम कितने ही अनजान बने रहो, पर तुम्हारा संवेदन ही तुम्हारे अस्तित्व को व्यक्त कर रहा है। भस्माच्छादित आग भस्म नहीं है। ऊपरी सतह पर भस्म ही नजर आती है, किन्तु वह भस्म भी उसके अस्तित्व का बोध करा रही होती है। क्योंकि आग के अभाव में उसमें ऊष्मा नहीं हो सकती। भेड़ों के साथ रहने से सिंह शावक अपने स्वभाव को, अपनी क्षमता को भूल सकता है, किन्तु वह है सिंह ही, वह भेड़ नहीं है। पशुओं के साथ रहकर कई व्यक्ति पशुओं-सा व्यवहार करने लगते हैं, पर क्या वे पशु बन गए? उनका वह व्यवहार उनका अपना नहीं है। संगति के प्रभाव से है, आवर्जित है, उसे हटाया जा सकता है। तुम स्वयं को भूल सकते हो, पर वह तुम्हें नहीं भूल सकता। तुम अपने से छिप सकते हो, किन्तु उससे तुम कभी नहीं छिप सकते। बहुरुपिया अनेक रूप बनाता रहता है। लोग जानते हैं कि यह बहुरुपिया है। यह अभी जिस रूप में है, वह उसका नहीं है, वह बनावटी है। ठीक उसी तरह तू वर्तमान में जिस रूप में है, वह बनावटी है। वह तुम्हारा अपना नहीं है। जैसे अपराधी खुफिया विभाग की आंखों से नहीं बच पाता, वैसे ही तुम भी उसकी आंखों से बच नहीं सकते। तुमने अब तक इतने रूप बनाए हैं, इतने रूप बनाए हैं कि तुम अपने मूल रूप को भुला बैठे हो, पर उसे तुम्हारे सारे रूप ज्ञात हैं व तुम्हारा मूल रूप भी। अब बहुत हो गया। क्या अब तक जी नहीं भरा? और कितने रूप बनाओगे? जागो! अपने रूप को देखो! जो तुम्हारा मूल रूप है, उससे बेहतर बनाए हुए रूप थोड़ी देर तक के लिए ही होते हैं। वे सदा-सर्वदा रहने वाले नहीं होते। सदा-सर्वदा तुम्हारा मूल रूप ही रहेगा। स्वर्ण के कितने भी आभूषण बना लिए जाएं, डिजाइनें, आकार-प्रकार बदल जाएं, पर मूल स्वर्ण स्वर्णकार की निगाह में मौजूद है। अतः तुम समझो, न तुम शरीर हो, न इन्द्रियां। न तुम मानव हो न दानव। तुम स्त्री या पुरुष भी नहीं हो। तुम न रक्तवर्णी हो न पीतवर्णी। तुम चैतन्य हो। तुम आत्मा हो। वही तुम्हारा शुद्ध स्वरूप है। तुम कितने ही रूप धरो, किन्तु उससे छिप नहीं सकते। इसलिए बहुत हो गया। अब अपना रूप सम्हाल।



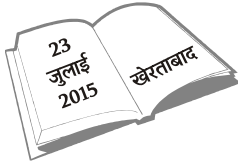
गुरु के दिल में समाने का गुरु



धारक संवाहक सदा, शिष्य छत्र घृत रूप। आराधक पूजक बने, गुरु मन के अनुरूप ॥

शिष्य कैसा हो, इसका दिग्दर्शन अनेक ग्रंथों, आगमों में किया गया है। उसका संक्षेपण उपर्युक्त दोहे में किया गया है। इसमें बताया गया है कि शिष्य को धारक-गुरु के वचनों को एवं मनोगत भावों को जानकर उन्हें धारण करने वाला होना चाहिए। साथ ही कार्य में उसे परिणत भी करें। ऐसा न हो कि केवल वचन से तहत्ति करता रहे, पर कार्य रूप में परिणत न करे। कार्य रूप में परिणत होने पर ही उसे पूर्णरूपेण धारक कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में गुरु ने शिष्य से कहा 'क्रोधं मा कुरु' क्रोध मत करो। शिष्य कहता है - 'तहत्ति', पर वह क्रोध को छोड़ नहीं पाता है। इसमें उसने वचनों से तो गुरु के उपदेश को स्वीकार किया, किन्तु क्रियात्मक स्थिति घटित नहीं हो पाई। परिणामस्वरूप वह पूर्णतया गुरु वचनों को धारण करने वाला नहीं हो सका। गुरु ने कहा 'अलं विवादेन' किन्तु शिष्य विवाद में उलझ जाता है तो गुरु के भावों को, वचनों को सम्यक् प्रकारेण धारण नहीं कर पाया, यही समझा जा सकता है। वचन से 'तहत्ति' करके स्वीकार करना तो आसान है, किन्तु क्रियात्मक रूप से उसे सम्पन्न करना बहुत कठिन है। जो प्रयोगात्मक रूप से गुरु वचनों को अमल में ले लेता है, वह गुरु वचनों का धारक तो होता ही है, साथ ही उससे आत्म-तोष भी प्राप्त होता है। उसे अनिर्वचनीय आनंद की अनुभूति भी होती है। गौतम गणधर भगवान के वचनों को झेलने वाले थे, धारण करने वाले थे। उन्होंने भगवान के वचनों को कभी अन्यथा रूप में नहीं लिया। प्रश्न होगा कि गुरु के वचनगत को समझा जा सकता है, पर मनोगत को कैसे समझा जाए? उसे अभ्यास दशा से ही समझा जा सकता है। शिष्य यदि निरन्तर उसका अभ्यास करे तो थोड़े समय में ही वह गुरु के मनोगत को समझने में समर्थ हो सकता है। उसके लिए उसे मन को पवित्र व एकाग्र बनाए रखना जरूरी है। गुरु के प्रति अनन्यास्था से वह लबालब भरा होना चाहिए। यदि ऐसा होगा तो वह गुरु के दिल में प्रवेश पा सकता है एवं उनके मनोगत को समझ सकता है।



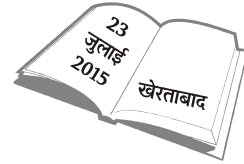


कार्य क्षमता को विकसित करें



शिष्य को चाहिए कि वह केवल धारक - गुरु वचनों को धारण करने तक ही स्वयं को सीमित न रखे, वह उसका संवाहक भी बने। संवाहक का अर्थ होता है - सम्यक्तया वहन करने वाला। वह क्या वहन करे? समुदाय का जो भी कार्य है, वह उसका संवाहक बने। कई व्यक्ति अपने कार्य तक ही स्वयं को सीमित बना लेते हैं। वे उससे आगे बढ़ ही नहीं पाते, किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं, जो अपनी कार्य क्षमता को विकसित करते हैं। कार्य क्षमता के विकसित होने के लिए जरूरी है कि कार्य का दायरा भी बढ़े। जब कार्य का दायरा बढ़ जाता है तो उसे उस दायरे तक कार्य करने का अवसर मिल जाता है। जो अपने तक सीमित हो जाते हैं, वे जीवन में विकास के शिखर का स्पर्श नहीं कर पाते। शिखर का स्पर्श वे ही कर पाते हैं, जो मन को विशाल बना पाते हैं। मन विशाल होता है तभी कार्य क्षेत्र-दायरा बढ़ पाता है, क्योंकि उस समय व्यक्ति यह नहीं सोचता कि यह कार्य मेरे जिम्मे है या नहीं। अथवा वह केवल बंधे-बंधाए कार्यों तक ही स्वयं को बांधकर नहीं रखता। वह यह मानता है कि गच्छ-संघ-समुदाय मेरा है। मैं उसका अंग हूँ। समुदाय जितना विकसित होगा, उतना ही मेरा विकास भी हो जाएगा। वह समुदाय के कार्यों को करने में स्वयं को संयोजित कर लेता है। समुदाय में कार्यों की कमी नहीं होती। अलग-अलग समुदायों के कार्य जुदा-जुदा हो सकते हैं, किन्तु सभी के संगठन के रूप में होने से सबमें कार्य होते ही हैं। चूंकि यह कथन शिष्य के संदर्भ में किया जा रहा है, इसलिए उसे गुरु के उन सारे कार्यों में सहभागी बनना चाहिए जिन्हें गुरु सम्पादित करवाना चाहते हों। उसके लिए उसे गुरु के आमन्त्रण का इंतजार नहीं करना चाहिए कि गुरु कहे तो ही वह करे। वह देखे कि गुरु इस कार्य का सम्पन्न होना चाहते हैं या नहीं? यदि गुरु चाहते हैं कि अमुक कार्य हो उसमें उसे सदा अग्रिम पंक्ति में रहना चाहिए। साधु सम्प्रदाय की दृष्टि से विचार करें तो जो नव दीक्षित शैक्ष संत हैं, उन्हें संघ-सामाचारी के अनुरूप अनुशासित ढंग से जीने की राह दिखाए। जो उन्हें आचार-गोचर में प्रवीण करे। उन्हें जिन भण्डोपकरणों की आवश्यकता हो उनकी गवेषणा करें। उनका संविभाग करें। परस्पर स्नेह-सौहार्द भाव की वृद्धि हो, वैसा प्रयत्न करें। इस प्रकार से वह संवाहक बन संघ की सेवा कर सकता है।





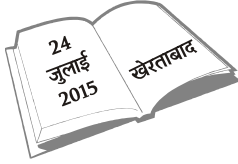
संवाहक बनने वाले के लिए कुछ अर्हताएं भी अपेक्षित हैं। उनके बिना वह उस 'मिशन' में सफल नहीं हो सकता। इसके लिए उसे कभी भी दूसरों की तरफ नहीं देखना चाहिए कि दूसरा व्यक्ति-दूसरा सदस्य कार्य कर रहा है या नहीं। वह ऐसी तकनीक तैयार करे कि दूसरे भी कार्यों में संयुक्त हो जाएं। किसी को भी कार्य रहित होने की स्थिति नहीं बने।

ऐसा तब हो सकता है जब उसकी दृष्टि बहुत आगे तक देख पा रही हो, इसके साथ ही उसे अपने व्यक्तित्व को पक्षपात रहित, निष्पक्ष बना लेना चाहिए। उसे यह विचार करना चाहिए कि मेरा पक्ष केवल सत्य है। मैं उसके साथ सदा जुड़ा रहूंगा। व्यक्तिवाद या व्यक्ति से जुड़ाव नहीं होगा। सत्य जहां होगा वहां मैं मौजूद रहूंगा। चाहे वह मेरे मित्र के पास हो अथवा शत्रु के पास भी क्यों न हो। उस मायने में शत्रु भी शत्रु नहीं होगा, क्योंकि वह उसके साथ खड़ा मिलेगा। निष्पक्षता के साथ ही साथ उसे अमायी, अचपल, अकुतूहली बनने का लक्ष्य रखना चाहिए। साथ ही गम्भीर, सहिष्णु व धैर्यशीलता में भी उसे अव्वल होना चाहिए। उसकी गम्भीरता आदि को कोई चुनौती न दे सके।

इस प्रकार की अर्हताओं से जो सम्पन्न होता है, उसे अपनी बात मनवाने की जरूरत नहीं पड़ती और न ही उसके लिए उसे दांवपेच ही लगाने पड़ते हैं। उसकी बात सहज रूप से सर्वग्राह्य बनेगी। यदि कोई उससे विचार भेद भी रखकर चलता होगा, तब भी वह उसकी बात से इनकार नहीं कर सकता, बात को टाल नहीं सकता। अन्तर से वह उससे पूर्ण रूप से सहमत होगा।

ध्यान रहे - कार्य करते-करते, ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता है, त्यों-त्यों उसमें पारदर्शिता बढ़ने लगती है। वह समुदाय को सत्य सापेक्ष बनाता हुआ, तप संयम की आराधना करता हुआ, करवाता हुआ, अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है।





स्वयं, स्वयं के गुरु बनो

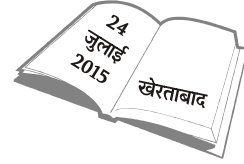


गुरु बनने की सीढ़ी है शिष्य। शिष्यत्व में जो सम्यक्तया जी सकता है, वही गुरु बन सकता है। गुरु आकाश से नहीं टपकते। वे शिष्यत्व के धरातल से जीकर ही गुरुत्व के दायित्व को प्राप्त करते हैं। हम अन्य किसी के गुरु बनें या न बनें, अपने जीवन के गुरु अवश्य बनें। जो अपना गुरु स्वयं बन जाता है, उसकी योग्यताएं छिपी हुई नहीं रह पाती। जो अपना गुरु बन जाता है, वह शिष्यत्व की ऊंचाइयों को छू लेता है। शिष्यत्व में जीने वाले को कर्तव्य-कर्म से कभी पीछे नहीं हटना चाहिए। अनेक कार्यों में उसका एक कार्य यह भी है कि वह गुरु का सुरक्षा कवच बने। छत्र-छाता जैसे धारण करने वाले को ताप-अताप, वर्षा आदि से बचाता है, रक्षा करता है, वैसे ही शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के लिए छाता बनकर रहे। वह गुरु पर आने वाली विपत्ति को अपने पर ले। गुरु तक वह विपत्ति जाए ही नहीं। कहा जाता है कि अरस्तु और सिकन्दर जा रहे थे। मार्ग में एक नाला पड़ा। सिकन्दर सदा पीछे चलता था, किन्तु नाले के आते ही वह आगे हो गया। उसने ऐसा इसलिए किया, पता नहीं नाला कितना गहरा हो। कहीं ऐसा न हो कि अरस्तु पहले नाले में उतरे और उसी में खो जाए। अरस्तु की सुरक्षा के लिए उसने स्वयं को संकट में डाला। उसका मानना था कि एक अरस्तु हजारों सिकन्दरों को बना सकता है, जबकि हजारों सिकन्दर भी मिलकर एक अरस्तु नहीं बना सकते।

रघुवंश में दिलीप राजा के लिए बताया गया है कि उसने कामधेनु की सेवा, रक्षा का भार स्वयं पर लिया। अनेक बार जीवन को जोखिम में डालकर भी वह कामधेनु की रक्षा करता है। जी-जान से उसकी सेवा करता है। शिष्य को भी चाहिए कि वह कामधेनु से भी बढ़कर ज्ञान-दाता, धर्म-बोध-प्रदाता गुरु की सेवा-सुश्रुषा में स्वयं को झोंक दे। उसे ही अपना महत्त्वपूर्ण कर्तव्य समझे। ऐसा करता हुआ वह गुरु की दृष्टि में तो शिष्य होगा, किन्तु वह अपने जीवन का गुरु बन जाएगा।



शिष्य बढ़ाए शक्ति गुरु की



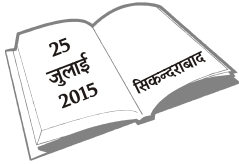
सम्प्रदाय गुरु और शिष्य के समन्वय से चलता है। गुरु नहीं हो तो वाचना कौन देगा ? शिष्य न हो तो गुरु किसे देंगे वाचना। वाचना के लिए आधार-आधेय भाव का होना जरूरी है। गुरु आधार होते हैं, शिष्य आधेय। जहां तक समन्वय की बात है, वह पारस्परिक व्यवहार की अपेक्षा रखता है। पारस्परिक व्यवहार से ही समन्वय फलीभूत होता है। शिष्य को घृत के समान स्वयं को बना लेना चाहिए। घी में जहर को नष्ट करने का सामर्थ्य है। शिष्य का घृत के समान होने का तात्पर्य है कि वह ऐसा व्यवहार करे, जिससे न उसमें कषाय भाव जगे, न ही आचार्य में। कहा भी है -

‘ण कोवए आयरियं अप्पाणंपि ण कोवए’

अर्थात् शिष्य न आचार्य को कुपित होने का अवसर दे, न स्वयं ही कुपित हो। कषाय जहर है, जहर शरीर का नाश करता है, कषाय साधुता को नष्ट कर देता है। आचार्य को क्रोध तब आता है, जब शिष्य कल्याणकारी शिक्षा से अनुशासित किए जाने पर भी उसमें प्रवृत्त न हो अथवा विपरीत पथ गामी बने। आचार्य सामान्यतया शांत रहते हैं, पर कभी-कभी किसी शिष्य द्वारा अनपेक्षित व्यवहार किए जाने पर वे उसी प्रकार उद्वेलित हो जाया करते हैं, जैसे गलियार⁽¹⁾ गधे को शिक्षा देता हुआ उसका मालिक खेदित होता है। शास्त्र में कहा है, ‘अणासवा थूलवया कुसीला मिउंपि चण्डं पकरंतिसीसा।’ बात नहीं सुनने वाला, स्थूल बोलने वाला कुशिष्य मृदु आचार्य को भी चण्ड प्रकृति वाला बना देता है। इसके लिए भी उत्तराध्ययन सूत्र के सत्ताइसवें अध्ययन को गौर से देखा जा सकता है। ऐसी स्थिति में आपसी सौजन्य का अभाव हो जाता है। उसका प्रभाव वाचना पर भी पड़ता है। इसलिए शिष्य को सदा गुरु के अनुरूप आचरण करने वाला होना चाहिए। वैसा होने पर गुरु की शक्ति बढ़ेगी। घी खाने वाले को घी ताकत देता है। वैसा ही शिष्य गुरु को पुष्ट करने वाला होना चाहिए। शिष्य को भी ऐसा होना चाहिए, जिससे गुरु की शक्ति कई गुणित हो जाए। ऐसा तब होगा, जब शिष्य उनके अनुरूप प्रवृत्ति करे।

(1) गलियार -सशक्त किन्तु आलसी





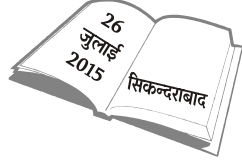
परम तोष दे गुरु की पूजा

28

शिष्य के लिए गुरु पूजक होना जरूरी है। पूजा सारम्भ भी होती है एवं निरारम्भ भी। कई लोग साधुओं के पाद प्रक्षालन करते हैं, आरती उतारने रूप बधावणा भी करते हैं, किन्तु यह औचित्यपूर्ण नहीं है। गृहस्थ के पाद-प्रक्षालन साधु मर्यादा के अनुरूप नहीं है। अधिकांशतः उसमें आरम्भ होने की संभावना है। दीपक आदि प्रज्वलित करना भी सारम्भ पूजा का रूप है। संत हिंसा के त्यागी होते हैं। उनकी प्रतिज्ञा होती है कि वे स्वयं किसी प्राणी का अतिपात करेंगे नहीं, अन्य से करवाएंगे नहीं और कोई कर रहा हो तो उसे अनुमति-अनुमोदन भी नहीं देंगे। पानी-अग्नि आदि में भी जीव होते हैं। उनका प्रयोग करने से उनके निमित्त जीव हिंसा का प्रसंग बन जाता है। जिसे वे स्वीकार नहीं कर सकते।

निरारम्भ पूजा संतों के द्वारा होती है। संत, गुरु की पूजा बिना आरम्भ के करते हैं। पूजा का तात्पर्य है उनके प्रति पूज्यता की बुद्धि रखते हुए जो भी उत्तम भोजन-पानी-शय्या-वस्त्रादि हों, उनके स्वास्थ्य के अनुकूल हों, वे उन्हें अर्पित करते हैं। उस अर्पणा में उनकी श्रद्धा-भक्ति होती है। वे यह विचार नहीं करते कि गुरु जी पूरा का पूरा ग्रहण कर लेंगे तो मेरे लिए क्या बचेगा? भिक्षा में यदि उन्हें अल्प मात्रा में ही कोई वस्तु प्राप्त हुई हो, तब भी वे पहले गुरु से सानुरोध निवेदन करेंगे कि वे उस पदार्थ को ग्रहण करें। यथावसर वे आग्रह भरा निवेदन भी कर सकते हैं। गुरु द्वारा ग्रहण कर लेने पर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव होता है। वे स्वयं को भाग्यशाली मानते हैं कि हमारे द्वारा लाया गया पदार्थ गुरु भगवान के काम आ गया। इससे उन्हें हार्दिक तोष होता है। यह द्रव्य पूजा का रूप है। उनकी आन्तरिक भावना भाव पूजा का रूप है। उस भावना से वे उन्हें आदर देते हैं, सम्मान देते हैं। उनके प्रति पूज्यता का भाव रखते हैं। इस प्रकार की पूजा से वे गुरु को सदा स्वस्थ एवं प्रसन्न रखना चाहते हैं। उनकी प्रसन्नता उनको खुशहाली देने वाला होती है। गुरु यदि शिष्य से उम्र या ज्ञान में न्यून भी हो, तब भी वे उसके लिए पूजनीय ही होते हैं। यह बात शिष्य को सदा ध्यान में रखनी चाहिए।



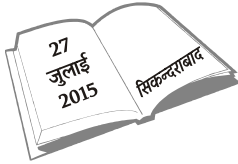


पीने का पानी वही है, जो पिया जा रहा है। उसमें यदि थोड़ी शक्कर घोल दी जाए तो वह पानी माधुर्य युक्त बन जाता है। पीने वाला रुचिपूर्वक पीएगा। सादा पानी प्यास बुझाने के लिए पीता है, जबकि शक्कर मिला हुआ मधुर पानी बिना प्यास के भी रुचिपूर्वक पिया जाता है। जैसे पानी के संदर्भ में यह कथन है, वैसे ही हमारी बोली के विषय में भी समझना चाहिए।

शब्द वही के वही होते हैं, किन्तु आन्तरिक वात्सल्य को उसमें घोल दिया जाए तो वे शब्द अत्यन्त रसीले बन जाते हैं। सुनने वाला रुचिपूर्वक सुनेगा। श्रोता का मन चाहेगा कि वक्ता और बोले। वाणी वही है, शब्द वे ही हैं, उन्हीं शब्दों से दुश्मनी भी पैदा की जा सकती है और उन्हीं से दोस्ती भी। उन्हीं शब्दों से लोगों की कतार अपने पीछे खड़ी कर सकते हो और वे ही शब्द लोगों की कतार को बिखेर भी देते हैं। इसलिए वाणी तो अमोल-अद्भुत है। बड़े पुण्य योग से प्राप्त हुई है। उसका प्रयोग करना आना चाहिए, अन्यथा उसका परिणाम उल्टा होते देर नहीं लगेगी। आन्तरिक वात्सल्य का रस जब उसमें घुल जाता है तो उसका प्रभाव वैसे ही अधिक हो जाता है, जैसे रसायन का होता है। पदार्थ वे ही होते हैं, किन्तु जब उन्हें रसायन का रूप दे दिया जाता है, तब उनमें औषधीय गुण कई गुणा बढ़ जाता है। आन्तरिक वात्सल्य पूर्ण भाषा रसायन का काम करती है। अतः जब बोला ही जा रहा है तो क्यों न उसमें थोड़ा-सा वात्सल्य भी उड़ेल दिया जाय। वह थोड़ा-सा वात्सल्य बर्फ को कुल्फी बनाने वाला बन जाता है।

प्रश्न होगा कि यह कैसे समझा जाए कि 'अमुक शब्द वात्सल्य पूरित है व अमुक शब्द वात्सल्य रहित है।' इसका उत्तर स्व-संवेदन के धरातल से ही प्राप्त किया जा सकता है। हम अपने में जानें कि हमें कौन-से शब्द किस प्रकार से कहे जाते हुए रुचिकर लगते हैं। जो शब्द जिस प्रकार कहे जाते हुए हमें उपयुक्त लगे, रुचिकर लगे, बस उसी प्रकार के शब्दों का उसी तरह से हम अन्यों के लिए भी प्रयोग करें। हमारा संवेदन ही वह तुला है, जिससे हम शब्दों को तोल सकते हैं।





चिन्तामणि से भी बढ़कर है स्तुति



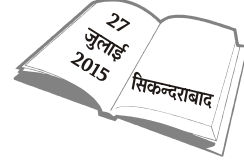
30



स्तुति मात्र शब्दों की जोड़-तोड़ नहीं है। वह मात्र शब्दात्मक नहीं होती। उसका सम्बन्ध भावों से है। उसे भाव प्रधान कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी, बल्कि वह यथार्थ के निकट ही होगी। स्तुति में शब्द होना कोई जरूरी नहीं है, पर स्तुति शब्दात्मक भी होती है। जो भाव शब्द बनकर बहने लगे, वे स्तुति की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा शब्द मात्र कलेवर होंगे। उनमें कोई रस नहीं होगा। स्तुति पद्यात्मक ही हो, यह जरूरी नहीं है। वह पद्यात्मक व गद्यात्मक दोनों प्रकार से हो सकती है। स्तुति में कई बार शब्द तो क्या, भाव भी मूक हो जाते हैं। उस समय केवल अनुभव दशा मौजूद रहती है। यद्यपि भाव वहां से सर्वथा हट नहीं जाते, किन्तु प्रधानता, अनुभव दशा की हो जाने से उसे उस रूप में स्वीकार किया जाता है। स्तुति से अचिन्त्य लाभ होता है। प्रश्न होता है कि 'स्तुति होती कब है?' जब गुण गरिमा युक्त व्यक्तित्व हमें प्रभावित करे। जिससे हमारा अन्तर नम जाए। उस समय हममें जो भाव बनते हैं, वे स्तुति रूप हो जाते हैं। स्तुत्य के गुणों से अभिभूत अंतर जो संवेदन व अभिव्यक्त करे, वह स्तुति रूप होता है। गुणी व्यक्ति का संसर्ग होते ही मन नमता है। उसके पश्चात् उसमें उसके प्रति सत्कार व सम्मान के भाव जागृत होते हैं। जो मन किसी अन्य को मान-सम्मान देने के बजाए, स्वयं ही मान-सम्मान का कामी है, वह यदि किसी को यथार्थ में मान-सम्मान देने लगे तो यह बहुत बड़ी बात है। इसे हल्के रूप में नहीं लेना चाहिए। यह गुणात्मक परिवर्तन का रूप है। जैसे नजदीक में कहीं वर्षा हुई हो तो उससे स्पृष्ट हवा शीतल-ठण्डी हो जाती है। जैसे उसमें यह बदलाव आ गया, वैसे ही ज्ञानी पुरुषों की संगति से अंतर बदल जाता है। ज्ञानी पुरुषों के व्यक्तित्व के प्रभाव से व्यक्ति के अन्तर में बदलाव आ जाता है। जैसे राष्ट्रपति भवन के कर्मचारी में परिवर्तन आता है। वह जब घर में होता है तो उसका व्यवहार कुछ और होता है, किन्तु जैसे ही वह राष्ट्रपति भवन में ड्यूटी पर आ जाता है, उसका व्यवहार बदल जाता है। उसके संस्कारों में राष्ट्रपति भवन आ जाता है। इसी प्रकार गुणी व्यक्ति के संसर्ग से आत्मा में बदलाव आता है। उस समय उसकी जो भी प्रवृत्ति होती है, वह गुणात्मक प्रभाव से अनुरजित होती है। वह समय उसके लिए अपना नहीं होता। गुणात्मक व्यक्ति जैसा करवा रहा होता है, वैसा होता है। उसी से स्तुति प्रकट होती है, ऐसा कहें तो अयुक्त नहीं होगा। ऐसी स्तुति व्यक्ति के भीतर गुणात्मक परिवर्तन लाती है। इसलिए वह चिन्तामणि से भी बढ़कर है, ऐसा कह सकते हैं।



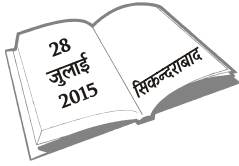
मूल स्वरूप सबका एक समान



स्तुति से जब गुणात्मक परिवर्तन होता है, तब व्यक्ति की दृष्टि मूल चेतना का अनुभव करने लगती है। बाह्य व्यवहार को वह कर्म जनित मानता है। जैसे अनेक बल्बों में विद्युत का प्रवाह समान रूप से होता है, प्रकाश भी एक समान ही होता है, किन्तु यदि उन बल्बों पर लाल, काला, नीला, पीला, हरा आदि कागज चिपका दिया जाए तो उनके प्रकाश में अन्तर आ जाता है। जब उन पर कागजों का आवरण नहीं था, तब उनका प्रकाश समान था, एक ही प्रकार का था और जब आवरण हटा दिए जाएंगे, तब प्रकाश फिर से एक रूप बन जाएगा। अभी प्रकाश में जो अन्तर है, वह कागजों के कारण है। वैसे ही समग्र आत्माओं का प्रकाश, समग्र आत्माओं का स्वरूप एक समान है, उनमें कोई अन्तर नहीं है। जो अन्तर-भेद-विभिन्नता नजर आती है, वह उस प्रकार के आवरण के कारण है। आवरण हटते ही सब एकरूप हो जाती है। इस अनुभूति के होने से उसमें सब के प्रति एकात्मक भाव बन जाता है। वह सोचने लगता है, बल्कि यूँ कहूँ कि वह अनुभव करने लगता है कि जीवों की जो भी प्रवृत्ति भिन्नता है, वह उसका मूल स्वभाव नहीं है। जो अन्तर दिखता है, वह आवरण कम ही है। यदि कोई मेरे से विपरीत भी चल रहा है, मेरे प्रति प्रत्यनीकता⁽¹⁾ लिए हुए भी है, तो वह उसका मूल रूप नहीं है। वह अभी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को जान नहीं रहा है, तभी उसमें प्रत्यनीकता के भाव हैं, अन्यथा वैसा हो ही नहीं सकता। क्योंकि आत्मस्वरूप एकात्मक है, उसमें न प्रतिकूलता हो सकती है, न अनुकूलता। वहां तो केवल 'होना' मात्र है। व्यवहार में किसी का व्यवहार किसी को अनुकूल तो किसी को प्रतिकूल लगने जैसा होता है, क्योंकि वह आवरण निमित्तक है। आवरणों में रहते हुए हमें उसका वैसा ही एहसास होगा। हमारा अनुभव वर्तमान में आचरणों से अनुरंजित है। इसलिए अधिकांश हम उसी को ग्रहण करते हैं, किन्तु जिसमें स्तुति से थोड़ा ही परिवर्तन घटित हुआ है, वह सूर्य पर से बादलों के कुछ-कुछ छंट जाने जैसा है। उससे सूर्य का अनुभव होने लगता है। वैसे ही शुद्ध आत्मतत्त्व का बोध ज्ञात होने लगता है।

(1) प्रत्यनीकता- शत्रुता





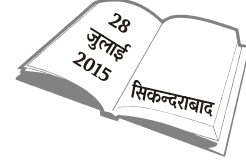
व्यक्तित्व विकास एक दृष्टि

32

व्यक्तित्व विकास के लिए अनेक कारणों में दृष्टि का तदनुरूप होना भी एक आवश्यक कारण है। कहा भी जाता है, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि अर्थात् दृष्टि जैसी होगी व्यक्ति वैसा ही विकास कर पाएगा। व्यक्ति की दृष्टि यदि गुणात्मक होगी, तो वह गुणों को ग्रहण करता हुआ स्वयं को गुणात्मक विकास के क्षितिज पर ले जा सकता है। यदि उसकी दृष्टि खंदकवत् होती है, तो वह अपने अच्छे गुणों को भी दुर्गुणों के संसर्ग से दूषित कर लेता है। खंदक का तात्पर्य एक प्रकार का गटर है। गांव भर का गंदा पानी जहां आकर इकट्ठा होता है, उसे खंदक कहते हैं। जिसकी दृष्टि खंदकवत् होती है, वह गंदगी, बुराइयोंको देखता रहता है एवं उन्हें इकट्ठा करता रहता है। उन गंदे विचारों के संग्रह से वह स्वयं खंदक रूप बन जाता है। खंदक में अच्छा पानी भी जाता है, किन्तु गंदगी के संयोग से वह भी गंदा हो जाता है। इसी प्रकार व्यक्ति में रही हुई अच्छाइयां भी बुराई के संयोग से दूषित हो जाती है। दूध में नींबू के रस की कुछ बूंदें उसके स्वरूप को दूषित करने वाली हो जाती है। वैसे ही ईर्ष्यादि दुर्गुणों से सदगुणों का स्वरूप बदल जाता है। ईर्ष्यादि खंदक का रूप है। एक ईर्ष्या ढेर सारी बुराइयों को लाने वाली होती है। ठीक इसी प्रकार निंदा भी एक भयंकर दुर्गुण है। ईर्ष्या और निंदा में थोड़ा फर्क है। ईर्ष्या दुर्गुणों का संग्रह करती है, जबकि निंदा उन्हें फैलाने का काम करती है। निंदा स्वयं को साफ बताते हुए दूसरे को नीचा दिखाती है। ईर्ष्या दूसरे की बढ़ती को सह नहीं पाती है। किन्तु दोनों अवस्थाएं दुर्गुण रूप ही हैं। ईर्ष्या को खंदक मानें तो निंदा को उसमें से उठने वाली गंध कहा जा सकता है। गंध जैसे वायु के संयोग से फैलती है, वैसे ही निंदा बुराई को फैलाने वाली होती है। इन दोनों दुर्गुणों के कारण आध्यात्मिक भावना नष्ट होती है। आत्म-दृष्टि गौण हो जाती है। अध्यात्म भावना का विकास आत्म-दृष्टि से होता है। आत्म-दृष्टि ही यदि गौण हो जाए तो अध्यात्म भावों का विकास कैसे होगा। अध्यात्म भावों के बिना व्यक्तित्व का विकास भी संभव नहीं है। ईर्ष्यादि दुर्गुणों से व्यक्तित्व खण्डित होता है। अतः स्पष्ट है कि व्यक्तित्व विकास के लिए तदनुरूप दृष्टि का होना भी जरूरी है।

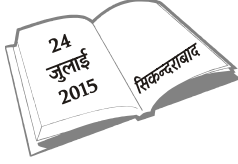


व्यक्तित्व निखार : कब-कैसे?



व्यक्तित्व का विकास एक कला है। प्रत्येक व्यक्ति की अभीप्सा रहती होगी कि उसका व्यक्तित्व निखरे। लेकिन व्यवहारिक धरातल से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैसा होता नहीं है। नहीं होने के पीछे भी कारण है। व्यक्ति उन कारणों को समझ नहीं पाता। परिणामस्वरूप वह उन कारणों को दूर करने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता। वैसी स्थिति में अर्थात् व्यक्तित्व विकास में बाधक कारणों के बने रहने से व्यक्तित्व में निखार आने की बात तो दूर, उसका सम्यक् विकास भी नहीं हो पाता। वह सामान्य अथवा न्यून अवस्था में जीता रहता है। व्यक्तित्व को धूमिल करने वाली अवस्थाओं में एक अवस्था पातकी है। पातक-पाप। पातकी-पापी। पाप के कई भेद हैं, पाप के भेदों से पापी के भी कई भेद हो जाते हैं। कुछ पाप सामान्य होते हैं, जबकि कई पाप अत्यन्त भयंकर परिणाम देने वाले होते हैं। हिंसा, झूठ आदि पाप सामान्य हैं, जबकि मिथ्यात्व का पाप अत्यन्त संगीन है। वह तो व्यक्तित्व की कमर ही तोड़ देता है। सारे अध्यात्म भाव तिरोहित हो जाते हैं। मिथ्यात्व पाप के भी कई प्रभेद हैं। उसमें **आशातना मिथ्यात्व बड़ा कड़क है**। वह यदि निरन्तर बना रहे तो साधनाशील विचारधारा में लापरवाही, आलस्य, प्रमाद आदि अनेक अवस्थाएं जन्म ले लेती हैं। नीतिकारों ने आलस्य को भयंकर शत्रु बताया है। आलसी व्यक्ति क्या व्यक्तित्व निखार पाएगा? उससे उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। आशातना का भाव अविनय से जन्म लेता है। विनय अध्यात्म की जड़ है। वहीं से अध्यात्म प्रारम्भ होता है। उसी से व्यक्तित्व का निर्माण-विकास व निखार होता है। विनय रूपी जड़ को ही उखाड़ दिया जाए तो विकास के लिए आगे की अवस्थाओं का चिंतन ही व्यर्थ है। विनय का अभाव ही अविनय है अथवा अल्प विनय, अविनय है। अविनय से अशातना का जन्म होता है। अशातना व्यक्तित्व को कुतरने वाली होती है। अविनय अध्यात्म की उपजाऊ भूमि को बंजर बना देता है। अतः व्यक्तित्व विकास एवं निखार के लिए अन्य घटकों की तरह पातकी अवस्था का न होना भी जरूरी है।





विनय : साध्वाचार की समग्रता

34

विनय का सामान्य अर्थ होता है-झुकना, नमना, विनम्रता आदि। इसका विशेष अर्थ है - साध्वाचार की समग्रता। यह विशेष अर्थ शब्द की व्युत्पत्ति से घटित होता है। व्युत्पत्ति है-**विनयति-अपनयति अष्टप्रकारकं कर्ममलमिति विनयः**। जो आठ प्रकार के कर्मों के मल का नाश करने वाला है, वह विनय है। कर्म मल साध्वाचार की समग्रता से ही क्षीण होता है, इसलिए विनय का विशेष अर्थ साध्वाचार की समग्रता के रूप में ग्रहण करना उपयुक्त नहीं है।

साध्वाचार क्या है? यह एक प्रश्न हो सकता है। इसका समाधान है कि पांच महाव्रत अहिंसा-सत्य-आचोर्य-ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, पांच समिति और तीन गुप्ति आदि जो आचार विद्या है, उसका सम्यक् परिपूर्ण परिपालन साध्वाचार की समग्रता है। इसे यदि संक्षिप्त में कहें तो यतना का परिपालन कहा जा सकता है। यतना में ही सारा सार समाया हुआ है। यत्नवान् संयत पापकर्म का बन्ध नहीं करता, यह आगम पाठ है, यथा **जयं चरेपावं कम्मं न बन्धई**।

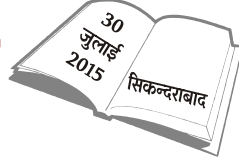
यतना का तात्पर्य है, उपयोगपूर्वक प्रवृत्ति। साधक की किसी भी प्रवृत्ति से अन्य किसी भी प्राणी को न कष्ट ही पहुंचे न उसके प्राणों का अतिपात ही हो। साधक की प्रत्येक क्रिया-प्रक्रिया पूर्णतया निर्दोष हो। निर्दोषता से ही अध्यात्म की ऊंचाइयां प्राप्त हो सकती हैं एवं निर्दोषता से ही साध्वाचार की समग्रता बन सकती है। हिंसादि दोष है। उनका आचरण होते रहने से साध्वाचार का परिपूर्ण पालन नहीं हो सकता।

विनय साध्वाचार की समग्रता के रूप में प्रतिष्ठित करता है। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र का पहला अध्ययन। उसका नाम दिया गया है-'**विनय श्रुत**'। उसकी विषय वस्तु झुकने-नमने तक ही सीमित नहीं है, अपितु साध्वाचार की समग्रता को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करती है। उस विषय वस्तु से टीकाकारों द्वारा किया गया विशेष अर्थ पूर्णरूपेण संगत प्रतीत होता है।



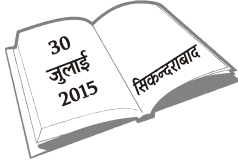
35

चातुर्मास बने उत्क्रान्ति रूप



चातुर्मास का नाम उत्क्रान्ति महोत्सव दिया गया है। उत्क्रान्ति तब घटित होती है, जब जो चल रहा है उससे कुछ हटकर विशेष किया जाए। अब तक के चातुर्मासों में तप-जप, ज्ञान-ध्यान का महत्त्व रहा है। जीवन के मूल फाउण्डेशन की तरफ ध्यान कम जाता रहा है। हो सकता है, उसके विषय में ऐसा समझ लिया गया हो कि यह तो है ही अथवा उसका जो महत्त्व है, उसे समझा न गया हो। यथार्थ में मूल फाउण्डेशन की तरफ मुख्य रूप से ध्यान ही नहीं दिया गया है, जबकि उस पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। मूल फाउण्डेशन है - सत्य-निष्ठा, ईमान। व्यक्ति को धर्ममय जीवन जीने का अधिकार तब हो, जब वह ईमान की रक्षा कर रहा हो, उसका आचरण सत्य-निष्ठ हो। एक तरफ मासखमण जैसी तपस्या करे तथा दूसरी तरफ झूठ, छल, कपटपूर्ण आचरण करे, तो वह तपस्या क्या महत्त्व रख सकती है। इसलिए तप-जप कम हो या ज्यादा, पहले सत्यमय जीवन जीने का अभ्यास होना चाहिए। सत्यमय जीवन जीने में यदि कठिनाइयां भी आएँ, तो उनसे उसे विचलित नहीं होना चाहिए। उसे अहंनक, सेठ सुदर्शन, राजा हरिशचन्द्र की तरह स्वयं को सत्य के प्रति समर्पित बनाये रखना चाहिए। उसकी ऐसी निष्ठा होनी चाहिए कि 'तन जाए तो जाए, मेरा सत्य धर्म नहीं जाए।' तन भले ही चला जाए, उसे तो एक दिन जाना ही है। सत्य को छोड़ करके भी तन को अजर-अमर तो रखा नहीं जा सकता। अतः सत्य के खातिर यदि तन को त्यागना पड़े तो सहर्ष त्यागने के लिए तत्पर रहना चाहिए। स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने वाले सरदार भगत सिंह जब हँसते-हँसते मौत का आलिङ्गन कर सकते हैं तो धर्म के लिए देह त्याग में एक क्षण का भी विलम्ब क्यों हो? सत्य के साथ किसी भी प्रकार की सौदेबाजी को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। सत्यनिष्ठा से विचार पवित्र होते हैं। पवित्र विचारों से शुद्ध और-आभामण्डल बनता है, जो व्यक्ति का सशक्त रक्षा कवच होता है। अतः उत्क्रान्ति महोत्सव के रूप में चातुर्मास को आकार देना है तो ईमान को कायम रखो एवं घर में क्लेशमय वातावरण न बने, इस प्रकार से जीवन को उत्क्रान्तिमय बनाएं।





प्रयास, पद के लिए नहीं

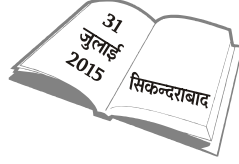
36

कार्यकर्ता को पद प्राप्ति का लक्ष्य नहीं रखना चाहिए। यदि पद प्राप्त हो तो उसे इतना दृढ़ भी नहीं होना चाहिए कि मैं पद नहीं लूंगा। यदि उसमें योग्यता है तो उसे पद ग्रहण करना चाहिए। उसके साथ ही उसे विचार करना चाहिए कि पद प्राप्त होने का अर्थ है – दायित्व विस्तार। पहले से मेरा उत्तरदायित्व बढ़ गया है। पद की गरिमा के अनुरूप मुझे पूरे मनोयोग से दायित्व का निर्वाह करना चाहिए। उसे यह भी विचार करना चाहिए कि इसके माध्यम से मुझे योग्यता बढ़ाने का भी अवसर मिला है। मैं इसके माध्यम से अपनी अर्हताओं को विकसित करूं, संभावनाओं को साकार करूं। यह अवसर मुझमें रही संभावनाओं को साकार रूप देने के लिए प्राप्त हुआ है, न कि मात्र जश्न मनाने के लिए। सच्चा कार्यकर्ता कार्य को जश्न मानता है। वह अलग से जश्न मनाने में विश्वास नहीं करता है। मनाया जाने वाला जश्न अल्पजीवी होता है, जबकि कार्यरूप से मनाया गया जश्न दीर्घजीवी होता है। दोनों का आनन्द भी भिन्न-भिन्न होता है। कार्य की क्रियान्विति रूप में जो जश्न होता है, वह गहरा आत्मतोष देने वाला होता है।

पद प्राप्ति का गर्व तो करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि वह उसका लक्ष्य नहीं था। उसका लक्ष्य श्रेष्ठ कार्यकर्ता बनने का होता है, उसे उसी रूप में स्वयं को आगे बढ़ाना चाहिए। कार्यकर्ता को अपने सामर्थ्य को विकसित करते रहना चाहिए। वह तब होता है, जब वह कार्य को सम्पादित करने में निरन्तर लगा रहे। जो कार्य सम्पादित हो चुका है, उसे और कितना श्रेष्ठ आकार दिया जा सकता है। उसमें और कितना सौन्दर्य भरा जा सकता है? उसे और कितना कलात्मक रूप दिया जा सकता है? इस पर भी उसका चिन्तन गतिशील रहना चाहिए। पद प्राप्ति लक्ष्य न हो।

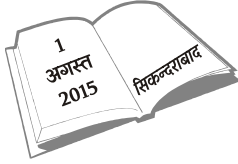
यदि प्राप्त हो तो उसे योग्यता को बढ़ाने का अवसर समझते हुए पद की गरिमा को बढ़ाने के लिए उसके अनुरूप कार्य सम्पादित करने का लक्ष्य रखना चाहिए।





निष्काम संघ सेवा शिविर आज से शुरू है। निष्काम शब्द की अनुप्रेक्षा से प्रश्न खड़े हुए कि क्या निष्काम उसे समझा जाए, जिसके परिणाम की चाह न हो। क्या वह निष्काम है? जिसका कोई प्रयोजन न हो। क्या निष्काम का यह अर्थ लिया जाए कि कार्य करते रहो, पूर्ण होने की कामना मत करो। ऐसे ही कुछ मिलते-जुलते प्रश्न खड़े हो गए। इन प्रश्नों में 'निष्काम' जिस रूप में प्रस्तुत हुआ है, वस्तुतः निष्काम का वह भाव यहां इस शिविर के सम्बन्ध में संगत नहीं है। बिना प्रयोजन के या परिणाम शून्य कार्य को कोई क्यों करेगा? यदि कोई वैसा करता भी हो तो शिविर का उद्देश्य तो वह हो ही नहीं सकता। कार्य पूर्णता की कामना न करना ऐसा निष्काम नहीं कहता। कार्य जो भी करणीय हो, वह प्रयोजन युक्त व परिणामदायक होना चाहिए। साथ ही कार्य को पूर्ण करने का लक्ष्य भी होना चाहिए। कार्य प्रारम्भ करके उसे बीच में, अधूरे में ही छोड़ दें, ऐसा कार्य सफल कार्यकर्ता नहीं कर सकता और न ही निष्काम का वह उद्देश्य हो सकता है। निष्काम का तात्पर्य यह ध्यान में आ रहा है कि व्यक्ति काम करे, किन्तु उसके बदले में नाम की कामना न करे। लोग उसके काम की सराहना करें, ऐसी कामना न करे। काम के बदले में लोग उसे महत्त्व दें, ऐसी तमन्ना न हो। कार्य करने का उद्देश्य एक मात्र 'सेवा' हो। व्यक्ति जब पारिवारिक दायित्व का वहन करता है, तब क्या वह परिवार वालों से प्रमाण-पत्र की अपेक्षा रखता है, क्या वह यह चाहता है कि उसके परिजन अन्य लोगों के समक्ष यह बात रखें कि हमारे अभिभावक हमारी बहुत अच्छी तरह से सम्हाल कर रहें हैं। एक माता, जिसने अपने बच्चे का लालन-पालन किया, क्या वह यह चाहती है कि उसका बच्चा या उसके पारिवारिकजन उसकी प्रशंसा करे कि उसने बच्चे का लालन-पालन किया। नहीं। जैसे घर का मुखिया या माता अपने काम के लिए नाम, यश या प्रशंसा नहीं चाहते और न ही वह उनके लिए कार्य ही करते हैं, वह कर्त्तव्य भाव से कार्य करते हैं वैसे ही समुदाय सेवा को अपना कर्त्तव्य समझते हुए उसकी सेवा निष्काम भाव से करनी चाहिए। ध्यान रहे जिसका मूल्य आंका जाता है, वह मूल्यवान होता है। जिसका मूल्य आंका नहीं जा सकता, वह अमूल्य होता है। निष्काम सेवा अमूल्य है।





अध्यात्म के पूर्व आत्म-ज्ञान

38

अध्यात्म के क्षेत्र में प्रविष्ट होने वाले को पहले आत्म-तत्त्व का बोध होना जरूरी है। यदि उसका बोध न हो तो वह अध्यात्म का आनंद कैसे उठा पाएगा? शराब के नशे में धुत शराबी यदि अपने घर में भी हो तो भी वह घर का आनन्द नहीं ले पाएगा, क्योंकि उसे यह संज्ञा ही नहीं है कि वह घर में है। जैसे नशे में घर का बोध, ध्यान नहीं हो पाता, वैसे ही मोह से बेसुध बने जीव को स्वयं का ज्ञान नहीं हो पाता। जब उसे यह ज्ञान ही न हो कि वह आत्मा है, तो आत्म अनुभूतिजन्य, आत्मपरिणति भाव का आनन्द वह कैसे प्राप्त कर सकता है? भले ही वह आत्मा-अध्यात्म की चर्चा कर ले, किन्तु वह आत्मानुभूति के लाभ से वंचित ही रहेगा। अतः आत्म-अनुभूति का लाभ आत्म-ज्ञान होने पर ही हो सकता है।

आत्मा के कर्तव्य से आत्म-बोध हो सकता है। आत्मा ही कर्ता है। जड़ पुद्गल में कर्तव्य गुण फलित नहीं होता। वह जानता ही नहीं कि वह कुछ कर रहा है। वस्तुतः वहां कर्ता नहीं है, जो होता है वह होता है। यद्यपि कई विचारक आत्मा को भी कर्ता नहीं मानते, किन्तु भगवद्गीता में बहुत स्पष्ट शब्दों में आत्मा को कर्ता और विकर्ता माना गया है। यथा 'अप्या कर्त्ता विकर्त्ता य' अर्थात् आत्मा ही कर्ता है और विकर्ता भी वही है। इसके अतिरिक्त श्रीमदाचारांग सूत्र में कहा गया है - 'अकरिस्सं चहं कारविसु चहं, करओ यावि समणुण्णे भविस्सामि' इसमें कर्तापन को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, अतः आत्मा कर्ता है। उससे उसकी सिद्धि होती है। जीव की तरह अजीव में कर्तव्य घटित होता ही नहीं है। कर्तव्य से आत्मा में उपयोग-ज्ञान-गुण स्वतः ही फलित होता है। करना उपयोग पूर्वक ही होता है। मैं खा रहा हूं, मैं पढ़ रहा हूं, स्वाध्याय कर रहा हूं, इन सब में जो क्रिया हो रही है, उसकी जानकारी में हो रही है। अतः कर्तव्य से आत्मा को जाना जा सकता है एवं उसे अपना ज्ञान होने पर ही वह उसका आनन्द पा सकता है। अपने ज्ञान के अभाव में आत्मीय आनन्द को नहीं पाया जा सकता। इसलिए अध्यात्म से प्रविष्ट होने के पूर्व आत्मा का ज्ञान अवश्य होना चाहिए।

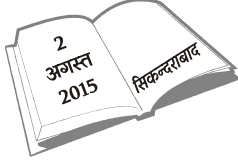


अज्ञान के कुचक्र को जानो



'स्वयं को ही नहीं जानना' कितना बड़ा अज्ञान है। उस अज्ञान के कारण ही आत्मा अभी तक विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करती रही है। कभी माता के गर्भ में शुक्र-शोणित से सना आहार ग्रहण करके गर्भज के रूप में जन्म लिया तो कभी मल-मूत्रादि में सम्मूर्च्छिम रूप में जन्मी व कभी नरक व देव भव में उपपात रूप में इसने जन्म लिया। इस प्रकार आत्मा जन्म लेती रही व मृत्यु का वरण करती रही। आत्म-अज्ञान आत्मा को 'इतस्ततः' भटकता रहा है व भटका रहा है। कभी कहीं ले जाकर पटकता, तो कभी और कहीं। हमने गंदगी के गटर को देखा है। उसमें अनेक कीड़े कुलबुलाते रहते हैं। सूअर भी उसी में मौज मनाता रहता है, यह भी हमने देखा ही होगा। क्या हमने नहीं देखा कि उसी गटर में मुंह डाल-डालकर सूअर विष्ठा आदि को बहुत ही मस्ती से खाता है। यदि अज्ञान हमारा भी तबादला-स्थानान्तरण वहां के लिए कर दे तो क्या मानोगे? अज्ञान का उपकार या अन्य कुछ? क्या वस्तुतः वहां जाने के लिए हमारा मन तैयार है? यदि नहीं हो तो क्या अज्ञान के आदेश को टालने की क्षमता है हममें? क्या अब भी हम अज्ञान के कुचक्र से स्वयं को नहीं बचाना चाहेंगे? अज्ञान के कुचक्र से बाहर निकलने का क्या उपाय है? क्या कभी सोचा? यदि न भी सोचा हो, किन्तु यदि कोई उपाय बताए तो क्या उन उपायों को अमल में लाने की तैयारी है? या अज्ञान के हाथों में ही हम अपने जीवन की बागडोर थमाए रखना चाहते हैं? सोचो-सोचो-सोचो! जरा शान्ति से सोचो। क्या धन-दौलत अज्ञान से राहत दिला सकते हैं? क्या माता-पिता या अन्य पारिवारिक जन अज्ञान के फंदे से बचा सकते हैं? क्या चर्चाओं को गर्म करने वाले लोग याकूब मेमन को फांसी के फंदे से बचा पाए? इन सारी बातों को जानते हुए भी क्या अनजान बने रहना है? यदि नहीं तो एक क्षण का भी विलम्ब क्यों? उठो प्रमाद को छोड़ो और स्वयं जानो कि तुम कौन हो? मुम्बई के धारावाहिक बम विस्फोट का एक आरोपी, जिसको बचाने के लिए भिन्न-भिन्न लोगों ने तर्क प्रस्तुत किए। रात भर कोर्ट भी चला, किन्तु उसे फांसी के फंदे से कोई बचा नहीं पाया।





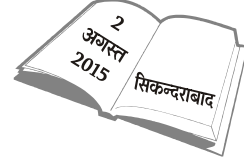
आत्मा को जानने के उपाय



आत्मा को जानने के दो उपाय हैं अथवा आत्मा को दो प्रकार से जाना जा सकता है। पहला उपाय है आत्मा को प्रत्यक्ष आत्मा से ही जानना। हम एक-दूसरे को देख रहे हैं। व्यवहार में इसे प्रत्यक्ष माना जाता है। कहने वाला कहता है कि मैं अमुक से प्रत्यक्ष मिलकर आया हूँ, किन्तु वस्तुतः यह प्रत्यक्ष नहीं है। इसमें देखना, जानना इन्द्रियों से हो रहा है। इन्द्रियां माध्यम बनी हुई हैं। सीधा आत्मा से जानना नहीं हो पा रहा है। इस जानने को सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। आत्मा से जो आत्मा को जान जाता है, वही यथार्थ में प्रत्यक्ष है। उस प्रकार से जानना, देखना केवल ज्ञान से ही होता है। केवल ज्ञानियों को किसी भी पदार्थ को जानने के लिए किसी भी इन्द्रिय का सहारा नहीं लेना पड़ता। वे आत्मा से ही सारे पदार्थों को जान लेते हैं। इस प्रकार आत्मा का जो ज्ञान होता है, उसे आत्मा से आत्मा को प्रत्यक्ष जानना कहते हैं। दूसरी तरह से जो जानना होता है, वह आदेश से होता है।

आदेश यानी उपदेश। जिन्होंने आत्मा को प्रत्यक्ष जाना, उन्होंने उसका जो स्वरूप बताया, उसे उपदेश कहा जाता है। आत्मा को हेतु-लक्षण से भी जाना जाता है, किन्तु वह भी आदेश के अन्तर्गत ही है। हेतु से जानने का तरीका यह है कि हेतु को देखकर साध्य का अनुमान करना। जैसे धुएँ को देख अग्नि का अनुमान करना, ध्वजा को देख यक्षालय का अनुमान करना। वैसे ही इन्द्रियों एवं ज्ञान-दर्शन-चरित्रादि लक्षणों से आत्मा का अनुमान किया जाता है, आत्मा का ज्ञान किया जाता है। इसके अतिरिक्त शुद्ध पद के आधार पर भी आत्मा की सिद्धि होती है। जो शुद्ध पद होता है, उसका वाच्य अवश्य होता है, जैसे अश्व, गौ आदि। आत्मा भी शुद्ध पद है, इसलिए उसका भी वाच्य अवश्यमेव है। ऐसा होता ही नहीं कि शुद्ध पद का कोई वाच्य ही नहीं हो। वाच्य अवश्य होता है। स्व संवेदन से व निषेध से निषेधकर्ता के रूप में भी आत्मा स्वतः सिद्ध है। इस प्रकार आदेश यानी प्रत्यक्षदर्शियों द्वारा प्रदत्त उपदेश से आत्मा को जाना जा सकता है। आत्मा को जानने के बाद ही आत्म-स्वरूप के विषय में जिज्ञासा बन सकती है। उस जिज्ञासा के बल पर आगे बढ़कर आत्मस्वरूप को भी जानना सुलभ हो सकता है।





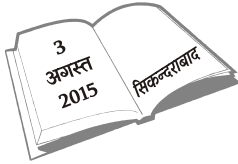
सुनना जितना आसान है, उतना ही कठिन है। सुनना शक्तिवर्द्धक भी होता है, तो सुनने से शक्ति का हास भी होता है। सुनने से समय सार्थक होता है, जबकि सुनना समय को निरर्थक भी बनाता है। सुनने से कर्म क्षय होता है, पर कर्मबन्ध भी। सुनना पुण्य फलदायी भी होता है, तो पाप फलदायी भी होता है। इससे जिज्ञासा हो रही है कि ऊपर जो कहा गया है उसका आशय क्या है? सुनना कान से होता है, यह हम सब जानते हैं, पर सुनने से अध्यवसायों में स्पन्दन कैसा होता है? धर्मशास्त्र को भी सुना जाता है तो निन्दा पुराण भी श्रुति का विषय बन जाता है। सिनेमा जगत के गीत भी सुने जाते हैं और भक्तिगीत भी। स्पष्ट है दोनों के सुनने पर आन्तरिक स्पन्दन एक समान नहीं होता। इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए सुनने के सन्दर्भ में उपर्युक्त कथन किया गया। भक्ति गीत सुनना शक्तिवर्धक होता है, उससे विपरीत सिने गीत सुनने से हाथ-पांव थिरकने लगते हैं। श्रोता का मन चंचल भी हो जाता है। आगम-सूत्रों को, आगम विवेचनाओं को पढ़ने से जीवन गहराई की ओर बढ़ता है। वहीं निन्दा पुराण कर्म बन्ध का स्थान बन जाता है।

इनसे भिन्न भी एक प्रकार का सुनना होता है, जिसमें स्वयं की निन्दा अथवा कमजोरियों का भी कथन हो। उसे सुनकर यदि व्यक्ति प्रतिक्रिया न करे, उसमें प्रतिक्रिया पैदा ही न हो तो वह सुनना शक्तिवर्द्धक होता है। उससे व्यक्ति में सहिष्णुता एवं धैर्य का गुणात्मक विकास होता है। यदि विचार करें तो जो अनर्गल प्रलाप करता है, उसकी शक्ति क्षीण होती है। किन्तु जो उस प्रलाप को सुनकर भी शान्त रहता है, समाधिस्थ रहता है, ऊहापोह में नहीं पड़ता, वह निश्चित रूप से शक्ति को बढ़ाता है। यदि यूँ कह दिया जाए कि सुनने वाला मोक्ष में जाता है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। अतः हमें अपनी गहरी धारणा जमा लेना चाहिए कि -

सुनना, सुनना, सुनना, सुनना, कब तक सुनना, कब तक सुनना।

जब तक जीवन तब तक सुनना, सुनना सुनना सुनना, सुनना ॥





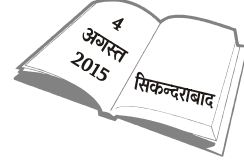
देखने को आंख भर जरूरी है

42

दुःखी व्यक्ति सुख की पहचान नहीं कर सकता। सुख का स्वाद जिसने चखा ही न हो, उसे क्या पता सुख क्या होता है? व्यक्ति सुख का कामी जरूर है, किन्तु जब वह सुख को जानता ही नहीं तब उसके सुखाकांक्षी होने का अर्थ क्या हो सकता है? लोक चाल। हाँ! उसे लोकचाल ही कह सकते हैं। लोक में जो सुना जाता है, उसी का वह अनुसरण कर रहा होता है। वह यदि वस्तुतः सुखाकांक्षी होता तो निश्चित रूप से सुख की खोज करता। सुख को पाने के लिए प्रयत्नशील होता। अभी तो वह जिसे सुख मानकर चलता है, वह भी दुःख ही है। उसे सुख नहीं कहा जा सकता। सुख तो आत्मा की वह अवस्था है, जिससे वह तृप्त हो जाता है। जिसमें किसी तरह की भूख या प्यास का नामोनिशान न हो, किन्तु ऐसा तभी होगा, जब उसकी दृष्टि में सुख आ जायेगा। उस समय वह अनावश्यक रूप से संग्रह नहीं करेगा। कौन व्यक्ति कितना सुखी है, उसकी पहचान उसके व्यवहार से हो पाती है।

एक कहावत है कि जिसकी जैसी दृष्टि होती है, वह वैसा ही देखता है। सुखी व्यक्ति की नजर में सभी जीव सुखी नजर आएंगे। दुःखी जीव को सभी दुःखी नजर आते हैं। व्यक्ति अधिकांशतः अपने नजरिए से ही दूसरों को तोलने का प्रयत्न करता है। वह उससे बढ़कर सोच भी नहीं सकता, लेकिन यह बात स्पष्ट है कि जो ज्ञान की आंख से देखना शुरू कर देता है, वह सुखी रहता है। जिसको वह आंख न मिली हो उसके पास कितने भी साधन हों, वे उसके लिए अपर्याप्त ही होते हैं। जबकि ज्ञानी पुरुषों के पास जो है, वह पर्याप्त है। उसे उसमें कमी या अभाव नजर ही नहीं आता है। सुख का अनुभव वही कर सकता है, जो तृप्त हो। तृप्ति की निगाह से जो देखेगा, उसे सर्वत्र सुख ही सुख दिखेगा। अतः यह मानकर चलें कि हर अवस्था में व्यक्ति सुखी हो सकता है, बशर्ते वह तृप्त हो। यदि तृप्ति नहीं है तो चाहे जैसी सुख-सुविधाओं की स्थिति में रहे, तब भी वह सुख का अनुभव कर नहीं सकता। सुख बाहर कहीं से उपलब्ध नहीं होता। वह व्यक्ति में ही मौजूद रहता है। बस उसे देखने की आंख भर जरूरी है।



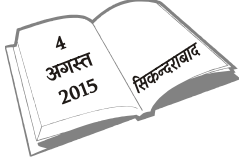


हमने अनेक बार दूध को खौलते हुए देखा होगा। चूल्हे में आंच होती है। उस पर दूध हो तो वह खौलता है। यदि आंच बुझ जाए या दूध वहां से हटाकर अन्यत्र रख दिया जाए, तो उसका खौलना मंद पड़ जाता है, व कुछ समय बाद वह एकदम स्थिर हो जाता है। थोड़े समय के पश्चात् जब उसे देखते हैं तो एक अद्भुत नजारा नजर आता है।

जो दूध कुछ समय पूर्व खौल रहा था, बर्तन के बाहर निकलने को आतुर हो रहा था, वही दूध अब शान्त है, शान्त ही नहीं, उस पर मलाई की थर भी जमी हुई है। उसे देख क्या कोई कह सकता है कि वह दूध कभी खौलता भी था? पर जिन्होंने उसे खौलते हुए देखा है, वे जानते हैं कि वह पहले कितना खौलने वाला था, उसमें कैसे-कैसे उबाल आ रहे थे। इसी विषय को जब अध्यात्म की दृष्टि से देखते हैं तो लगता है कि जीवात्मा दूध के समान है। ईंधन के रूप में वर्णादि पांच इन्द्रियों के विषय हैं। आग कषाय का रूप है, कषायों की पैदाइश इन्द्रिय विषयों से होती है। उस आग से चैतन्यात्मा अस्थिर हो उठती है, उसमें उबाल आने लगते हैं, पर कषाय रूपी आग से चैतन्यात्मा को अलग कर दिया जाए, उसे उस क्षेत्र से भिन्न ऐसे क्षेत्र में पहुंचा दिया जाए, जहां कषाय का ताप लगे नहीं, वहां पहुंचते ही चेतना में आ रहा उबाल धीरे-धीरे शान्त होने लगता है, थोड़े समय के पश्चात् मलाई की थर के समान वह समाधिस्थ हो जाता है। अब हवा के झोंके भी उसे चंचल-अस्थिर नहीं कर पाते अर्थात् तेरे-मेरे के भाव उसे विचलित नहीं कर सकते।

इससे स्पष्ट होता है कि जो भी समाधि का इच्छुक हो उसे पांच इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त होने से बचना चाहिए। पांच इन्द्रियों के विषयों में अनुरक्त होते हैं तो कषाय की आग सुलगने लगती है। उससे चैतन्यात्मा अस्थिर-अशान्त बन जाती है। अस्थिरता-अशान्तता उसका स्वभाव नहीं है। शान्तता-समाधि उसका स्वभाव है। स्वभाव में जीएं। विभाव को छोड़ें।





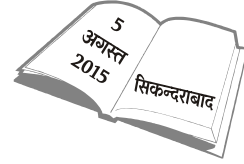
सुनें तो कैसे सुनें?

44

बोलना एक कला है, जिसे वक्तृत्व कला कहा जाता है। बोलने का प्रशिक्षण भी दिया जाता है। वक्ता केवल मुंह से ही नहीं बोले, उसका शरीर भी बोलना चाहिए। उसके अंग-प्रत्यंग से भी अभिव्यक्ति होनी चाहिए। जैसे वक्तृत्व कला है, वैसे ही लेखन भी कला है। कलात्मक लेखन पाठक को बांधे रखता है, उसमें आगे से आगे पढ़ने की रुचि पैदा करता है। जैसे वक्तृत्व व लेखन कला है, वैसे ही सुनना भी एक कला है। किन्तु उसके सन्दर्भ में शिक्षण-प्रशिक्षण के विशेष प्रकल्प देखे-सुने नहीं जाते। कहीं होंगे तो भी वे अत्यन्त सीमित होंगे। प्रचार में कम होंगे। बोलने से भी सुनना महत्वपूर्ण है। सुनने से ही कल्याण अथवा अकल्याण मार्ग को जाना जा सकता है। सुनने से ही बोलना विकसित होता है। यदि कोई जन्म से बहरा हो तो अधिकांश संभावना है कि वह बोलने-स्पष्ट बोलने में भी समर्थ नहीं होगा। कोई हो जाए तो उसे अपवाद ही कहा जा सकता है।

सुनना इतना महत्वपूर्ण होते हुए भी उसकी तरफ मनीषियों का ध्यान क्यों नहीं गया, यह चिंतन का विषय है। सुनने की कला का सबसे पहला बिन्दु है - अवधानता अर्थात् जो सुनो अवधानतापूर्वक, एकाग्र भाव से, पूर्णरूपेण सुनो। वक्ता जो कहना चाह रहा है, उसे पूरा अवसर दिया जाए। उसे पूरा सुना जाए। सुनते समय इधर-उधर देखना, किसी से बात करना, पुस्तकादि पढ़ते रहना, माला गिनना, ये सारे दोष हैं। इनको टालने का लक्ष्य रखना चाहिए। सुनते हुए जो बिन्दु समझ में न आए हों, उन पर पृच्छा होनी चाहिए। सुनने के पश्चात् अनुप्रेक्षापूर्वक हेय-ज्ञेय-उपादेय की छंटनी करनी चाहिए। सुने हुए को स्मृति-कोष में सुरक्षित करने का भी लक्ष्य होना चाहिए। सुनते हुए प्रसंगोपात्र गर्दन हिलाना भी वक्ता को यह एहसास करवाता है कि वह जो कह रहा है, उसे सुना जा रहा है, समझा जा रहा है। सुनते समय मन अन्य किन्हीं विचारों का उत्पादक न हो। यदि किसी को उत्तर भी देना हो तो सुनते समय उत्तर नहीं गढ़ते रहना चाहिए। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि सुनते हुए केवल सुनने में ही मन रखना चाहिए।



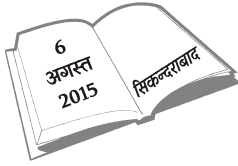


सुनना एक कला है। सुनने की भी विधि है। सुनने से पहले यह निश्चय करें कि हम किसलिए सुन रहे हैं। हमारे सुनने का उद्देश्य क्या है? क्या हम केवल शौकिया सुन रहे हैं या हमारे सुनने का अन्य कोई लक्ष्य है। जब कोई शौकिया सुनता है, उसके सुनने का तरीका भिन्न होगा, पर जब कोई उद्देश्यपूर्वक सुनता है, उसका सुनना विधिपूर्वक होगा। प्रश्न होगा - क्या सुनने की भी विधि होती है। उत्तर होगा - निश्चित रूप से सुनने की विधि होती है, सुनने की विधि श्रीमत् नन्दीसूत्र में इस प्रकार से दर्शाई गई है -

**‘मूअं दुकारं वा, बाढक्कारं पडि पुच्छ वीमसां
तओ पसंग पारायणं च, परि णिड्ढा सत्तमए’**

(1) मौनपूर्वक गुरु के वचनों को सुने (2) गुरु वचनों को सुनते हुए बीच-बीच में प्रसन्नतापूर्वक हुंकार देते रहें (3) सूत्र या अर्थ अथवा सूत्रार्थ सुनते हुए ‘गुरुदेव! आपने जो कहा वह सत्य है “तहत्ति”। इस प्रकार का उच्चारण करें (4) जहां विषय पूरा समझ न आए वहां उन स्थानों के प्रति पृच्छा करे। पृच्छा जिज्ञासा भाव से करें, न कि मात्र तर्क-वितर्क (5) गुरु के वचनों को सुनकर अनुप्रेक्षा करते हुए प्रमाण को ध्यान में लें। गुरु के आशय को सम्यक् प्रकार से समझने का प्रयत्न करें (6) जो सुना है, उसमें पारंगत हो जाना अर्थात् हेतु प्रमाणों के साथ विषय हृदयंगम हो जाना चाहिए (7) गुरु की तरह ही सैद्धान्तिक विषयों की प्ररूपणा करने में पारंगत हो जाए। जैसा कि श्री सुधर्मा स्वामी आदि फरमाते हैं- ‘तिबेमि’-‘जैसा मैंने गुरु महाराज से सुना, वैसा ही कह रहा हूं।’ इस प्रकार से जो सुना जाता है, उससे शिष्य पारगामी बन जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सुनने का लक्ष्य श्रुत में पारंगत होने का व उसी प्रकार से प्ररूपण करने का होना चाहिए। उस लक्ष्य से सुनने वाला उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जो मात्र औपचारिक रूप से सुनता है वह कोरा रह जाता है। जैसे बैंक का कैशियर नोट गिनता तो बहुत है पर उनका मालिक नहीं होता। उनको ग्रहण नहीं कर पाता। इसी प्रकार बिना विधि के सुनने वाला सुनता तो बहुत है, पर आत्मसात् नहीं कर पाता।





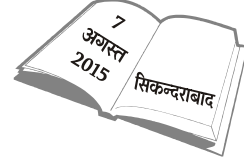
मन का उचाट : कारण और समाधान



जब भी मन में उचाट पैदा हो तो विचार करना चाहिए कि मन में उचाट क्यों है ? अधिकांशतः मन का उचाट मन की प्रतिकूलताओं से बनता है। मन के उचाट में राग का भी सम्बन्ध होता है, किन्तु उसमें भी कहीं न कहीं प्रतिकूलता अनुभूत होती है। जैसे किसी का मन किसी पदार्थ या व्यक्ति के प्रति आकृष्ट हुआ, किन्तु किन्हीं भी कारणों से वह उन्हें पाने में असमर्थ रहा। उस स्थिति में मन उचट जाता है, यद्यपि इसमें दिखने में राग भाव मुख्य लग रहा है, पर गहराई से विचार करें तो उसे प्राप्त न कर पाने का भाव ही मुख्य है। प्राप्त नहीं कर पाना, प्राप्त होने में अड़चनें खड़ी होना, यह प्रतिकूलता ही है। अनुकूल अवसर प्राप्त न होना भी एक प्रकार से प्रतिकूलता ही है, क्योंकि वह उस समय प्रतिकूलता का वेदन कर रहा होता है। प्रतिकूलताएं व्यक्ति को खिन्न करती हैं और खिन्नता से मन में ऊहा-पोहा चालू हो जाता है, जिससे व्यक्ति धराशायी हो जाता है। इसलिए उसे उस समय सांसारिक सम्बन्धों पर विचार करना चाहिए कि मैं किस पर राग करूं, किससे अनुरक्ति-लगाव बनाऊं ? जो स्वयं ही अस्थिर हैं अशाश्वत हैं, वे मुझे क्या सहारा दे पाएंगे। पदार्थों के प्रति किया गया लगाव भी दुःखप्रद ही होता है। यदि मैं किसी के प्रति अनुरक्त नहीं होता तो मेरी यह दशा होती ही नहीं। आज मैं जिस कठिनाई का अनुभव कर रहा हूं, उसका कारण भी मेरी अनुरक्ति ही है। यदि मैं व्यक्ति या पदार्थ की ओर अनुरागी नहीं होता, तो मेरी मस्ती मेरे से कौन छीन सकता था ? किसी में वह ताकत नहीं है कि मेरी मस्ती कोई छीन सके, पर मैंने ही अपनी शक्ति को पर मैं नियोजित करके स्वयं को पंगु बना लिया है। अब तक मैं समझ नहीं पा रहा था। इसलिए मेरे मन की यह दशा बनी हुई है। अब मैं स्पष्ट रूप से यह समझ रहा हूं कि कोई भी किसी का नहीं हैं। किसी को किसी से आकांक्षा नहीं करनी चाहिए और न ही किसी के प्रति अनुरक्ति ही पैदा होने दी जाए, जिससे न तो प्रतिकूलता के प्रसंग ही बनेंगे और न ही मन में उचाट होगा।



‘मन बनना’ ही मुख्य आधार



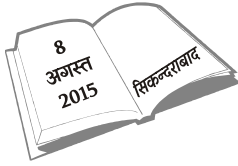
कार्य को दुरुह मानकर हिम्मत हारने वाला कभी भी उस कार्य को कर नहीं सकता। वह वहीं का वहीं ठिठका हुआ खड़ा रह जाएगा। व्यक्ति को मानकर चलना चाहिए कि ‘कोई भी कार्य असंभव नहीं है। कोई न कोई तो उस कार्य को सम्पादित करेगा ही, तो क्यों न मैं ही इसके लिए प्रयत्नशील बनूँ।’ कार्य करते-करते व्यक्ति में अद्भुत क्षमता पैदा हो जाती है। आचार्य पूज्य गुरुदेव श्री नानालाल जी म. सा. फरमाया करते थे कि ‘काम गुरु होता है।’ जैसे गुरु से ज्ञान प्राप्त होता है, वैसे ही कार्याभ्यास से ज्ञान के रास्ते खुलते जाते हैं। कहा भी गया है -

‘करत करत अभ्यास के जड़मति होय सुजान।

रसरी आवत जात तें, सिल पर परत निशान ॥’

निश्चित ही जो व्यक्ति कार्यरत रहता है, वह कार्य की बारीकियों को बखूबी जान सकता है। हो सकता है आज जो कार्य दुरुह लग रहा है, वही कुछ दिनों के निरन्तर अभ्यास से बहुत आसान हो जाए। कोई भी नया कार्य प्रारम्भ में दुरुह लगता है। वह दुरुह होता नहीं है, लगता है। लगता इसलिए है कि उससे हम अनभिज्ञ होते हैं। जिस रास्ते से अनभिज्ञ होते हैं, वह राह भी प्रारम्भ में बड़ी कठिन लगती है, किन्तु जब उस पर चलने लगते हैं, दो-चार बार उस पर से गुजर जाते हैं, तो वही राह बहुत आसान लगने लगती है। ठीक इसी प्रकार कोई कार्य शुरूआती दौर में ही कठिन लग सकता है, उसकी सफलता को लेकर मन आशंकित हो सकता है, भय की हल्की-सी रेखा भी अन्तर में पैदा हो सकती है, किन्तु हिम्मत से यदि कार्य सम्पादन का मन बना लिया जाता है, तो 50 प्रतिशत कार्य तो उसी समय सुगम हो जाता है। उसकी रूपरेखा बन जाए तो लगभग 20 प्रतिशत और सफलता मिल जाती है। शेष कार्य मात्र 30 प्रतिशत ही रह जाता है। उसे पूरा करने में देर ही क्या लगे। वस्तुतः कार्य के लिए मन बनना ही मुख्य आधार है।



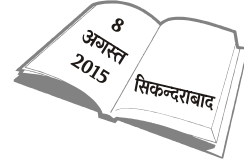


पहचान बनाती शक्ति सम्पन्न

48

श्वान अपनी गली में, जिस घर में रहता है उसकी सीमा में वह स्वयं को शक्तिशाली मानता है। वहां तक वह राजा होता है। उस सीमा तक वह हिम्मत से किसी का भी प्रतिकार कर सकता है। क्या हमने इस पर कभी विचार किया कि वह ऐसा क्यों कर पाता है? इसके पीछे गहरा विज्ञान है। वह उस क्षेत्र से परिचित होता है। वह घर वालों से भी परिचित होता है। उस परिचय से उसमें साहस जग जाता है। नए क्षेत्र में उसका साहस कार्यरत नहीं हो पाता। कई बार नए क्षेत्र में उसे दुम दबाकर भागते हुए भी देखा जाता है। इससे फलित होता है कि परिचय अत्यन्त प्रभावी होता है। इस विषय पर जब आत्मा के परिप्रेक्ष्य में चिन्तन किया जाता है, तब अद्भुत तत्त्व-बोध पैदा होता है। जब आत्मा 'स्व' में स्थित होती है, तब उसकी शक्ति अपरिमेय बन जाती है। वह अनन्तानन्त स्कन्धी कर्म वर्गणाओं को आत्मा से दूर करने में समर्थ हो जाती है। वहीं आत्मा जब पर-क्षेत्र में यानी पौद्गलिक-क्षेत्र में चली जाती है, पुद्गल से प्रीत करने लगती है तब उसकी शक्ति मंद पड़ जाती है। उस समय वह उतना शौर्य दिखा नहीं पाती। उसका शौर्य वहां प्रकट नहीं हो पाता, क्योंकि वह क्षेत्र पुद्गल के अधीन है, वहां पुद्गल का जोर चलता है। यदि आत्मा के शौर्य को जगाना है तो जरूरी है कि वह अपनी शक्तियों से परिचित हो। जब वह अपने पास रहे अमोघ शस्त्रास्त्रों को जान जाएगा तो उसका शौर्य उसे चुप नहीं रहने देगा। उसके पास क्षमा-मृदुता आदि रूपी ऐसे-ऐसे अमोघ शस्त्र हैं, जिनसे क्रोधादि को दूर से ही भगा सकता है। क्षमादि की एक हुंकार से ही क्रोधादि प्रकम्पित हो जायेंगे। जैसे सिंह गर्जना से ही सारा वन प्रान्तर कांप जाता है। वन में रहने वाले वनचर इधर-उधर भागने लग जाते हैं, ठीक वैसे ही आत्म शक्ति की हुंकार से कर्म-रिपुओं में हलचल मच जाती है। इसलिए उचित है कि आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव में रहे, जिससे वह अपने शौर्य का सम्यक् उपयोग करने में समर्थ हो सके। अतः शक्ति बढ़ाने के लिए आत्मा को अपने क्षेत्र में रहना चाहिए एवं उससे ही परिचय करते रहना चाहिए।

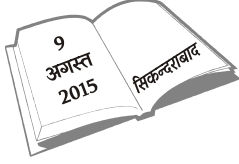




अपूर्णताएं व्यक्ति को मुखर बनाती हैं। अपूर्णता ही व्यक्ति को वाचाल बना देती है। उससे ही व्यक्ति अवसाद को प्राप्त होता है। खिन्नता का कारण भी वही है। घर, परिवार, समाज में जो झंझटें खड़ी होती हैं, उनमें भी उसी का हाथ होता है। नीति में एक बात कही गई है कि 'पूर्ण घट शब्द नहीं करता' उसके सन्दर्भ में ही यह मुहावरा है, 'अधजल गगरी छलकत जाए।' भाव स्पष्ट है जो अपूर्ण होता है, वह शब्द करता है और जो पूर्ण नहीं होता, वह छलकता है। आगमिक धरातल पर विचार करें तो भगवान महावीर कभी छलके नहीं। गोशालक-जमाली छलक गए, छलकते रहे। छलकना, शब्द करना, हो-हल्ला करना ये अपूर्णता के पर्याय हैं। अपूर्ण व्यक्ति अपनी कमजोरी को दबाने के लिए शब्द करता है। वह मानता है कि इससे मेरी प्रतिष्ठा बनी रह जाएगी, बढ़ जाएगी, पर यह उसकी भयंकर भूल है। वह जितना शब्दों का उच्चारण करता है, हो-हल्ला करता है, वह कमजोर होता हुआ चला जाता है। वह कमजोरी उसे अवसाद प्राप्त कराने वाली होती है।

लोकसभा में जो हो-हल्ला, शोरगुल, काम नहीं होने देना आदि विपक्ष के द्वारा होता रहता है, उसका कारण भी उनकी कमजोरी ही कही जा सकती है। अपूर्णता तो है ही। छद्मस्थावस्था ही अपूर्णता है। सर्वज्ञता-वीतरागता को पूर्णता माना जा सकता है। सिद्धावस्था तो कृत-कृत्य होने पर ही प्राप्त होती है। छद्मस्थावस्था में भी कुछ लोग पूर्णता की ओर अग्रसर होते हैं। उनमें पूर्णता में प्रकट होने वाले गुण विकसित होने लगते हैं। वे उन गुणों की सेवना करते हुए अपनी तितिक्षा को सक्षम बनाने का प्रयास करते हैं। भगवान महावीर, गजसुकमाल आदि ने वैसी दृढ़ता, वैसी तितिक्षा छद्मस्थावस्था में रहते हुए भी बनाए रखी थी। उन्होंने बचाव के लिए किसी को याद नहीं किया और न शोरगुल ही किया। वे स्वयं में शान्त रहे। ऐसी दृढ़ता उन्होंने छद्मस्थावस्था में ही प्राप्त कर ली थी। वे उस समय पूर्ण नहीं थे, फिर भी पूर्णता के निकट ही थे। उसी के प्रभाव से पूर्णता प्राप्त कर पाए थे। अतः पूर्णता पाने के लिए उस राह को पकड़ना जरूरी है।





बहे संवेग रस धार

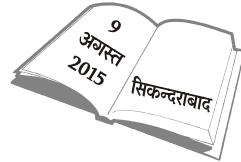
50

साधु ही नहीं श्रावक व सम्यग् दृष्टि आत्मा में भी शम-संवेग-निर्वेद की धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रहनी चाहिए। जिस पेड़ की जड़ों से रस प्राप्त होता रहता है, वे हरे-भरे रहते हैं। अनेक पखेरु उन्हें आश्रय बनाते हैं। अनेक राहगीर ऐसे ही वृक्षों के नीचे ठहरकर रास्ते की थकावट को मिटाने का प्रयत्न करते हैं। उन पेड़ों पर कोई पत्थर भी फेंके तो भी वे पेड़ उनको अपनी छाया भी देते हैं व अपने फल भी। अपकार के बदले सामने वाले का उपकार ही करते हैं। वे शठ के प्रति शठता की नीति नहीं अपनाते हैं, बल्कि शठता करने वालों को भी अपनी छाया व फल दे सन्तुष्ट करते हैं।

श्रावक की वृत्ति भी उस पेड़ के समान होनी चाहिए। जैसे वह रस से हरा भरा रहता है, वैसे ही श्रावक भी शम-संवेग-निर्वेद की धारा से स्वयं को आप्लावित किए हुए होते हैं। उस धारा के प्रभाव से वे आने वाले कष्टों को कष्ट मानते ही नहीं। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि वे कष्ट अपने प्रवाह में उसे प्रवाहित कर ही नहीं सकते। पादप की तरह वे भी अनेक लोगों के आश्रय भूत बन जाते हैं। जैसे राहगीर पेड़ की छाया में बैठ गम को, तनाव को भूल जाता है, वैसे ही कई श्रद्धालुजन उस श्रावक के इर्द-गिर्द बने रहते हैं। शम-संवेग-निर्वेद की धारा के कारण उनका जीवन हरा-भरा रहता है। परिणामस्वरूप अनेक लोग उनके समक्ष अपनी समस्याएं रख समाधान भी पाते हैं। उनका व्यवहार मृदु-कोमल होता है, जिससे अनेक लोग उनका आश्रय ग्रहण करते हुए अपने गम-तनाव को दूर कर लेते हैं।

श्रावक में यदि उक्त शम-संवेगादि की धारा प्रवाहित न हो तो वे शुष्क काष्ठ की भांति गौरवहीन हो जाते हैं। वैसे ही श्रावक शासन की प्रभावना करने में समर्थ नहीं होते। वे स्वयं भी तनाव में बने रहते हैं एवं अन्यो को भी तनाव में ही ले जाने का उपक्रम करते रहते हैं। अतः श्रावक अपने कर्तव्य के प्रति जागरुक रहें, धर्म की प्रभावना को बढ़ाने का प्रयत्न करें।

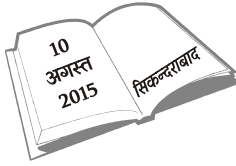




लाउड स्पीकर की आवाज आ रही थी। हमने उच्च स्वर में स्तुति की। उस समय माइक की ध्वनि कर्ण-कुहरों को विषयीभूत न हो सकी। उसी समय अनुप्रेक्षा में इस प्रकार का भावोद्भव हुआ कि जब हम-हमारी आत्मा कमजोर रहती है तो कर्म उस पर हावी हो जाते हैं। यदि आत्मा का पौरुष सक्रिय हो जाए तो कर्म की शक्ति नगण्य हो जाती है, फिर वह आत्मा पर भारी नहीं पड़ सकती। हमारा अनुभव तो प्रमाण है ही कि स्तुति के उच्च स्वरों से माइक की ध्वनि प्रभावहीन बन गई, आगम प्रमाण भी उपलब्ध हैं। जैसे-जैसे आत्मोल्लास बढ़ता है, वैसे-वैसे कर्म शक्ति मंद पड़ जाती है। नीम के काढ़े में स्वच्छ जल डाले जाने पर उसका कड़वापन कम हो जाता है। तीव्र वर्षा में जैसे सूर्य ताप मंद पड़ जाता है, तेज हवा से जैसे उमस का जोर कम पड़ जाता है, वैसे ही आत्म ऊर्जा के व्यापृत होने पर कर्म-ताप मंद पड़ जाता है। कर्मों का प्रभाव उसे प्रभावित नहीं कर पाता। गजसुकमाल के सिर पर अंगारे डाले जाने पर भी वे अंगारे गजसुकमाल मुनि की आत्मा को पराभूत नहीं कर पाए। वस्तुतः आत्मा की शक्ति अद्वितीय है। उसकी तुलना अन्य किसी से नहीं की जा सकती। निर्वीर्य पुरुष कर्मों के समक्ष पंगु हो जाया करते हैं, पर सतेज पुरुष कर्मों की कार को महत्व नहीं देते। भारतवासी लम्बे समय से गुलामी झेलते आ रहे थे, किन्तु जब उनका वीर्योल्लास उत्क्रान्त हुआ, तो अंग्रेजों का तेज निस्तेज हो गया। आखिर उनको अपना बोरियां-बिस्तर समेटना पड़ा।

कर्मों को पावर देने वाली आत्मा ही है। यदि आत्मा जागृत हो जाए तो वह उसे पावर लेस, पावर रहित भी कर सकती है। अपवर्तना करण व संक्रमणकरण से कर्मों की शक्ति क्षीण, मंद पड़ जाती है, लेकिन इसके लिए आत्म-जागरण जरूरी है। बिना उसके जगे कर्मों की शक्ति को चुनौती नहीं दी जा सकती। इसलिए हम जागें। यह वेला जगने की है, आगम वाणी भी हमें प्रेरणा दे रही है - 'उट्टिए नो पमायए'; उठो, प्रमाद मत करो। प्रमाद में मत रहो। अप्रमत्त होना, उठ खड़ा होना है। जागें और अपनी चेतना को जगाएं।



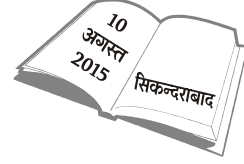


कर्मों के प्रति आन्दोलन



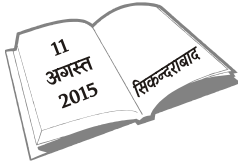
कर्म तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। हो सकता है कि वह तुमसे खफा हो जाए, तुम्हारी सम्पत्ति, वैभव लूट ले, उसे अपने अधीन कर ले। तुम्हारे परिवार से तुम्हें अलग-थलग कर दे। तुम्हारे सारे परिवार को बिखेर दे। तुम्हें पदच्युत कर दे। उससे भी अधिक वह तुम्हारे शरीर को ही लील ले। पर सोचो, इतना करने पर भी उसने तुम्हारा क्या बिगाड़ा? धन वैभव तुम कहां से लाए? रिश्ते-नातों का तुमसे मेल किसने कराया? यह शरीर किसकी देन है। कर्मों की ही न। जब ये सारे कर्मों द्वारा प्रदत्त हैं, ये सारे कर्मों से ही प्राप्त हैं, तो यदि कर्म इनको ले लें तो उसने तुम्हारा क्या लिया? ये तो पहले भी तुम्हारे नहीं थे, आज भी तुम्हारे नहीं हैं और कल भी तुम्हारे रहने वाले नहीं हैं। जब तुम इनको अपना मानते हो, तभी इनके चले जाने पर तुम्हें दुःख, पीड़ा होती है। जो तुम्हारे हैं ही नहीं, फिर क्यों तुम उनको अपना मानने लगे? छोड़ो इनके साथ अपनेपन के लगाव को। यह लगाव छूटते ही तुम अनुभव करोगे कि कर्म निस्तेज हो गया। तुम्हारा आभामण्डल अत्यन्त शुभ, सशक्त बन गया। तुम्हारा आत्म तेज इतना बढ़ गया कि तुम्हें आंख दिखाना या तुमसे आंख मिलाना तो दूर, कर्म की आंखें तुम्हारी तरफ उठ ही नहीं पा रही हैं। वह अपनी झेंप को मिटा ही नहीं पा रहा है। मान-अपमान आदि सारी स्थितियां कर्म निर्मित हैं। जब तक तू कर्माधीन रहेगा, उसकी सारी व्यवस्थाओं को तुम्हें स्वीकारना ही पड़ेगा। हरिश्चन्द्र और तारा को क्या उस चाण्डाल व ब्राह्मण के आदेश-निर्देश को नहीं मानना पड़ रहा था? जब उस तेजस्वी सम्राट को भी कर्माधीन रहते सब मान्य करना पड़ा, तो तुम भी जब तक कर्माधीन बने रहोगे तो तुम्हें भी कर्म के विधान को मानना ही पड़ेगा। अतः उत्तम है कि स्वयं को कर्म विमुक्ति की दिशा में प्रस्थित करो। आज से ही उससे मुक्त होने का आन्दोलन छेड़ दो। उसकी सत्ता को चुनौती देना प्रारम्भ कर दो, उसके द्वारा दिए गए सारे लबादों का त्याग कर दो। उसके द्वारा दी गई सारी सुविधाओं से मन को अलग कर लो। वह अन्य प्रलोभन देने लगे तो उसमें मत फंसना। अर्थात् मन को ढीला मत करना, तुम निश्चित जीतोगे। समझो तीर्थकरों का तुम्हें अवदान मिल गया है।





कर्मों ने अपनी जो पैठ जमाई है, वह ईमानदारी के आधार पर बनाई है। वह जो भी करता है ईमानदारी से करता है। उसके राज में भाई-भतीजे वाद की कहीं कोई गुंजाईश है ही नहीं। जो है सब स्पष्ट है। उसके कानून, सेना के कानून से भी कठोर हैं। वह सबसे उन कानूनों की पालना करवाता है। राजा हो या रंक, फकीर हो या गैर फकीर, अमीर हो या गरीब, उसके राज्य में सब समान हैं। किसी को भी वी. आई. पी. का दर्जा नहीं है। कर्म स्वयं कुछ नहीं करता। आपके द्वारा जो रीति-नीति बनाई गई है, वह तो केवल उसका पालन भर करवाता है। टेप रिकॉर्ड वही सुनाता है, जो आपने उसमें भरा है। सी. डी. वही दिखती है, जो उसमें भरा गया है। प्रोजेक्टर पर्दे पर वही दृश्य दिखाता है, जो रील में भरा गया होता है। जैसे सी. डी., टेप रिकॉर्ड, प्रोजेक्टर या दर्पण अपनी तरफ से न तो कुछ जोड़ते हैं, न ही कुछ छोड़ते हैं, वे अपनी तरफ से पूरी ईमानदारी बरतते हैं, वैसे ही कर्म अपनी तरफ से न तो कुछ जोड़ता है और न ही कुछ घटाता है। जैसा आपने किया वैसा ही वह ईमानदारी से प्रस्तुत कर देता है। इस सन्दर्भ में यदि यह कह दूं कि अपनी इस ईमानदारी के कारण ही वह अब तक पैठ जमाए हुए है, तो इसे कोई बुरा न मानें, क्योंकि यह सुनिश्चित है कि ईमान से जो पैठ जमती है, उसे गेंती और फावड़ा से भी उखाड़ा नहीं जा सकता। उसकी नींव को हिलाया नहीं जा सकता। कर्म कुदरत है। कुदरत जैसे ईमान रखती है, यदि इंसान भी वैसा ही ईमान रखने लगे तो कुदरत के साथ उसका अच्छा मेल हो सकता है, पर इंसान तो कुदरत के ही पर कतरने में लगा हुआ है। ऐसे में उससे क्या आशा की जाए कि वह ईमान को बचाने के लिए जिंदादिली बताएगा? ध्यान रहे जो ईमान को बचाता है, कुदरत उसको ईनाम देती है, पर जो ईमान को चबाता रहेगा, उसका बचाव कुदरत नहीं कर सकती। पैठ के लिए ईमान और इंसान दो ही काफी है। कुदरत ने इन दोनों का साथ आज तक निभाया है। आगे भी निभाएगी ऐसा इस पर विश्वास है। यदि पूछ लूं कि क्या हमको अपने पर उतना ही विश्वास है? जवाब स्वयं से स्वयं को लेना है।





सर्व शक्ति सम्पन्नोऽहम्

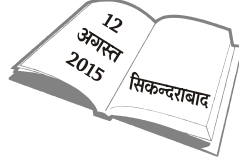
54

मैं सर्व शक्ति सम्पन्न हूँ। मेरे में समग्र शक्तियाँ सन्निहित हैं। मैं उनका अनुभव करूँ, उनको उपयोग में ले सकूँ, ऐसा मुझे प्रयत्न करना चाहिए।

पिछली रात्रि को ध्यानावस्था में ऐसा ही अनुभव हुआ। मैं विचार कर रहा था 'सर्वशक्ति केन्द्रमयोऽहम्', मैं समग्र शक्तियों का केन्द्र हूँ। सारी शक्तियाँ मेरे में निहित हैं। शक्तियों को पंगु बनाया है तो मैंने ही। मैं ही क्रोधादि कषायों का सहारा लेता रहा हूँ। अपनी शक्तियों को भुलाकर बाह्य शक्तियों पर भरोसा करता रहा। उनका सहारा लेता रहा, जबकि उनका कोई अस्तित्व ही नहीं है। मैंने उन्हें जगह दे रखी है, उसी के आधार पर वे जीवित हैं। वे मेरे स्वभाव नहीं, विभाव हैं। क्या यह उपयुक्त होगा कि अब भी मैं उन्हीं को महत्त्व देता रहूँ? मेरी प्रसन्नता को भी किसी ने छीना है तो मेरे ही विभावों ने। उन्हींने ही मुझे धोखे में रखा। मैं उनसे छला गया। दोष मेरा ही है। मैं ही अज्ञान में बना रहा हूँ। सत्त्वित आनन्द घनरूपी आत्मा के स्वरूप को समझने में अक्षम रहा। मैं अपने स्वरूप में रमण करूँ। कोई कुछ भी कहे, मैं आत्म परिणति में बना रहूँ। इसके लिए प्रारम्भ में मुझे सजग-सावधान रहना होगा, क्योंकि अनेक क्षण मेरी आत्म-परिणति को चुनौती देने वाले आ सकते हैं। उस समय यदि सावधान नहीं रह पाया तो बाजी हाथ से निकलते देर नहीं लगेगी। आज की अनुभूति को दीर्घाकार देने के लिए आवश्यक है कि आत्म-स्पर्शी अनुप्रेक्षा प्रतिदिन होती रहे, अन्यथा विषय-कषाय-स्वार्थ की हवा उसे उड़ाकर कहां ले चलेगी, कोई पता ही नहीं पड़ेगा।

आत्म-अनुभूति को यदि दीये की उपमा से उपमित किया जाए, तब भी विषय-कषाय-स्वार्थ की हवा से उसका बचाव करना जरूरी है, नहीं तो दीप को बुझते देर नहीं लगेगी। आत्म-स्पर्शी अनुप्रेक्षा का ग्लास (शीशा) लगा देने पर उस हवा से बचाव हो सकता है। अतः मैं सर्वदा, सर्वत्र, सर्व शक्ति सम्पन्न हूँ। इस पर आत्म-स्पर्शी अनुप्रेक्षा होती रहे।

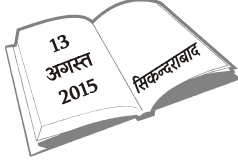




सिद्धान्त को यदि कोई आकार दे दिया जाए तो उसे समझने में काफी सुविधा हो जाती है। तात्कालिक सुविधा के पीछे एक खतरा अवश्य बना रहता है, क्योंकि लोग लकीर के फकीर हुआ करते हैं। खतरा यह है कि वह आकार, वह कथा तो रह जाएगी, पर सिद्धान्त भूल जाएंगे। कथा ही मुख्य और मुखर हो जाएगी। कथाओं का कथ्य गौण हो जाता है, कथा महत्त्व पा जाती है। इस खतरे से बच पाना बहुत कठिन है। अधिकांशतः होता यही है कि खाके को ही हम महत्त्वपूर्ण मानने लगते हैं। यदि उससे बचाव हो सके तो आकार-कथादि के माध्यम से विषय को, सिद्धान्त को बहुत आसानी से हृदयंगम किया जा सकता है, करवाया जा सकता है। लोक के स्वरूप को एक तो सिद्धान्त रूप से कहें, दूसरा उसका आकार-नक्शा बनाकर बताया जाए। नक्शों में बताया गया जल्दी हृदयग्राही हो सकता है। एक तो घी ऐसे ही खाने को दें, दूसरा उससे कोई खाद्य पदार्थ निर्मित करके खिलाया जाए। खिलाना दोनों जगह घी को ही है।

पहले तरीके से हर कोई घी नहीं खा सकता, पर दूसरी तरह से खिलाया जाने वाला घी सभी लोग आसानी से खा सकते हैं। इसी तरह सिद्धान्त को आकार दे देने से वह शीघ्र समझ में आ जाता है। उदाहरण के रूप में आत्मा अपने द्वारा किये कर्मों का ही भोग करता है, अन्य का नहीं। इस सिद्धान्त का कथारूप आकार है, भगवान महावीर के कानों में ठोके गए कीलों का, गजसुकमाल मुनि पर रखे गए धधकते अंगारों का, खंदक मुनि की खिंचवाई गई खाल का। ऐसे अन्य अनेक उदाहरण मौजूद हैं, किन्तु उन्होंने आकार ग्रहण कर लिया। इन कथाओं को सुना तो बड़ी दिलचस्पी से जाता है, किन्तु इनके मूल हार्द पर श्रद्धा करते हुए उसे अमल में लाने की दिशा में गति नहीं देखी जाती है। इसलिए सिद्धान्त को आकार देने में यह खतरा बना रहता है कि कहीं वह आकार में ही खो न जाए। इतना होने पर भी आकार तो देना ही पड़ता है। अतः आकार को आकार व कथ्य को कथ्य के रूप में स्वीकार करना सीखें।



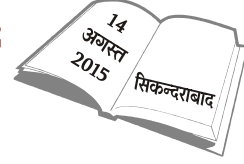


धर्म और तत्त्व का ऐहिक फल



धर्म और तत्त्व की बातें, वर्तमान जीवन के लिए कितनी उपयोगी हैं ? ऐसा प्रश्न कई बार उपस्थित हो जाता है। समय-समय पर समाधान भी दिया जाता रहा है। आज भी उस सम्बन्ध में कुछ विचार पैदा हुए। धर्म और तत्त्व की बातों का सीधा प्रभाव वर्तमान जीवन पर ही पड़ता है। लोगों में जो यह मान्यता है कि धर्म की बातें परलोक के लिए हैं, वह एकान्ततः सही नहीं है। उससे परलोक भी सुधरता है। पर कब ? जब वर्तमान जीवन सुधरेगा। यदि वर्तमान जीवन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा, तो वह धर्म परलोक में भी प्रभावी नहीं बन सकता। सत्य बोलने का लाभ अभी मिलेगा या परलोक में। क्रोध नहीं किया तो समाधि अभी इसी भव में मिलेगी या नहीं ? निश्चित रूप से इसी जीवन में शांति-सुख-समाधि का अनुभव होगा। धर्म का फल धन प्राप्ति नहीं है। कई लोग धर्म का फल भौतिकता से जोड़ लेते हैं कि धर्म करने से भौतिक लाभ मिलेगा। यह उचित नहीं है। धर्म का सम्बन्ध बाह्य भौतिक पदार्थों से नहीं है। उसका सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। वह सन्तस आत्मा को शान्त करता है। कषायों से परितप्त आत्मा को समाधि देता है। विषयों में विकल व्यक्ति को समाधान देता है। कुल मिलाकर धर्म हमारे वर्तमान जीवन को आत्म-सुख से समृद्ध करता है। इसी तरह तत्त्व की चर्चा हमारे भीतर आत्म-बोध को पैदा करती है। व्यक्ति को धैर्य, सहनशीलता तत्त्व ज्ञान से ही प्राप्त होती है। कषाय नहीं करने, राग-द्वेष-ईर्ष्या-डाह से दूर रहने की कला उसी तत्त्व-बोध का परिणाम है। कोई व्यक्ति कितना भी सन्तस हो वह यदि तत्त्व-चिन्तन में प्रविष्ट होता है तो वह सन्तसावस्था कब दूर हो जाएगी और कब शान्ति की समीर परिव्याप्त हो जाएगी, व्यक्ति को ज्ञात ही नहीं हो पाएगा। जैसे गर्मी के ताप से सन्तस व्यक्ति छायादार वृक्ष के नीचे बैठता है तो उसे सहज नींद के झोंके आने लगते हैं, उसकी थकान दूर हो जाती है, वह सुखानुभव करने लगता है, वैसे ही तत्त्व-बोध हमें आराम देने वाला, हमारी थकान मिटा कर हमें सुखानुभव कराने वाला है।

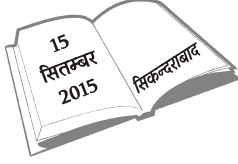




आर्त प्राणी सुखी नहीं हो पाता। आर्त का तात्पर्य भौतिक पदार्थों की कामना से है। इष्ट संयोग व अनिष्ट वियोग की अन्तर्निहित भावनाएं आर्त हैं। वेदना आदि के प्रसंग से आकुल-व्याकुल होना भी आर्त है। आर्त के अन्तर्भाव पर गौर करें तो उसकी दृष्टि बाह्य पर केन्द्रित मिलेगी। बाह्य पदार्थों के संयोग और वियोग से वह हर्ष या दुःख का वेदन करने लगता है। अनुकूल वातावरण में वह खुश नजर आएगा, किन्तु प्रतिकूल वातावरण को वह सह नहीं पाता। प्रतिकूलताएं उसमें चुभन पैदा करती हैं। अनुकूलताएं उसे गुदगुदाने लगती हैं। इन्हीं कारणों से वह दुःखी हो जाता है।

जो धर्म तत्त्व को नहीं जान पाए हों वे तो आर्तभाव में रमण करने वाले होने से दुःख का वेदन करते ही हैं, लेकिन धर्म तत्त्व के ज्ञाताजन भी कई बार आर्तभाव में बह जाते हैं। पांचों इन्द्रियों के विषयों पर जब तक जय नहीं पा ली जाती, तब तक आर्त से बच पाना कठिन है। मुनित्व स्वीकार करके चलने वाले भी कई बार आर्त बन जाते हैं। भोज्य सामग्री भी उन्हें कभी-कभी उद्वेलित कर देती है। अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण का भी उन पर प्रभाव हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि पांच इन्द्रियों के विषय का जो संवरण होना चाहिए था, वह नहीं हो पाया है। पांच इन्द्रियों के विषयों पर जो जय पा लेते हैं, वे सहसा आर्त नहीं बन सकते। उनकी दृष्टि में गहरा बदलाव आ जाता है। परिणामस्वरूप वे दुःख का वेदन नहीं करते। उनकी दृष्टि मुख्य रूप से अन्तर्मुखी बनी रहती है। वे बाह्य पदार्थों को उपेक्षा (तटस्थ) दृष्टि से देखते हैं। उन पर अनुरक्ति की बात ही कहां रह जाती है। अतः सुखी बनने के लिए सरल मार्ग है आर्त-भाव से ऊपर उठें। मनोज्ञ-अमनोज्ञ के प्रति एक भाव बन जाए। क्योंकि अभी जो मनोज्ञ हैं, वह सदा मनोज्ञ ही रहने वाला नहीं है। समयादि के बदलने से मनोज्ञ-अमनोज्ञ हो जाया करता है और अमनोज्ञ-मनोज्ञ। इसलिए किसी भी पदार्थ पर अनुरक्ति कोई महत्त्व नहीं रखती। अनुरक्ति एक मात्र आत्म-भावों के प्रति रहनी चाहिए। अनुराग मात्र धर्म तत्त्व त्रयी पर ही हो। इन्द्रिय विषयों में नहीं। सुख हमारे भीतर है, लेकिन जब से प्राणी बाहर सुख ढूंढने लगा, वह दिशा भटक गया। परिणामस्वरूप उसे आर्त होना पड़ा। आर्त भावों को ज्ञान-दृष्टि से हटाया जा सकता है।





संधारा : आत्महत्या नहीं

58

राजस्थान हाईकोर्ट ने संधारा संलेखना को आत्महत्या के रूप में स्वीकार करते हुए उसके लिए दण्ड का भी विधान किया। तब से जैन संघों में वह विषय चर्चा में है। अलग-अलग लोग भिन्न-भिन्न रूप से बयानबाजी में लगे हुए हैं। हमारे पास भी ज्ञान-चर्चा में यह विषय चर्चित रहा। हाईकोर्ट में हारने का स्पष्ट कारण है, हमारी नासमझी। हमारी स्वाध्याय की गहराई न होना। यदि श्रावक वर्ग में तल स्पर्शी ज्ञान होता तो संभवतः ऐसी स्थिति पैदा नहीं होती। हम ज्ञान की गहराई तक पहुंचने का लक्ष्य बना भी पाएंगे या नहीं, कुछ कह पाना कठिन है।

संधारा और आत्महत्या में रात-दिन का अन्तर है। आत्महत्या शब्द से स्पष्ट है कि वह स्वयं को खत्म करने के लिए की जाने वाली एक प्रवृत्ति है। संधारे में स्वयं को खत्म करने का कहीं कोई तथ्य नहीं है। संधारा मृत्यु के लिए नहीं स्वीकारा जाता। ऐसा उसके पाठ से स्पष्ट है।

बड़ी संलेखना के पाठ में कहा गया है-

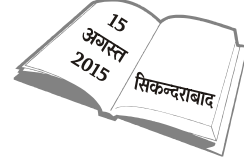
‘काल की आकांक्षा नहीं करते हुए।’

इससे दिन के उजाले की तरह स्पष्ट है कि संधारे में मृत्यु की चाह-आकांक्षा हो ही नहीं सकती। यदि किसी संधाराधारी के मन में मृत्यु की भावना आ जाए, यानी जल्दी मरण प्राप्त हो जाए, ऐसी इच्छा भी आ जाए तो वह संधारे का दोष है। संधारे को सती प्रथा से जोड़ना भी उचित नहीं। संधारे को सही रूप से समझने की आवश्यकता है। यदि कोई वारन्ट किसी के लिए निकला हो, वह कोर्ट जाने के लिए कागजातों की तैयारी दो-चार घन्टे या दो-चार दिन पूर्व करने लगे तो क्या वह अपराध है? नहीं। वैसे संधारे वाला स्वयं की तैयारी करता है, किन्तु मरने की जल्दी का उसका कोई विचार नहीं होता। यह उपर्युक्त काल की आकांक्षा नहीं करने रूप प्रतिज्ञा-पाठ से स्पष्ट है।

अतः संधारे को न तो आत्महत्या की श्रेणी में ही लिया जा सकता है और न ही सती प्रथा से उसे जोड़ा जा सकता है।



स्वतन्त्रता बनाम आत्मानुशासन



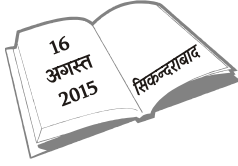
स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता के बोलने और लिखने में ज्यादा अन्तर नहीं लगता, किन्तु भावार्थ में बहुत बड़ा अन्तर है। स्वतन्त्रता जीवन है तो स्वच्छन्दता को मृत्यु भी कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। स्वतन्त्रता के लिए पात्रता आवश्यक है अन्यथा उसका मोड़ स्वच्छन्दता की तरफ होते कोई देर नहीं लगती। स्वच्छन्दता अपने ही पैर पर कुल्हाड़ी चलाने जैसी स्थिति है।

वर्तमान में लोकसभा आदि संस्थाओं की कार्य पद्धति पर विचार किया जाए तो भारी निराशा के अलावा कुछ भी हाथ आने जैसा नहीं लगता। उसके जो भी सदस्य हैं, वे परिपक्व हैं, ऐसा कहना तो और भी कठिन है। किसी भी संस्था का कार्य विधिपूर्वक होना चाहिए। उसे मन युद्ध या द्वन्द्व युद्ध का अखाड़ा नहीं बनने देना चाहिए। अन्यथा यह कहने में कोई संकोच नहीं होगा कि हम स्वतन्त्रता के काबिल हैं ही नहीं।

स्वतन्त्रता का सुख आत्मानुशासन से मिल सकता है न कि स्वच्छन्दता से। यदि कोई गतिरोध को अपना अधिकार मानता है तो वह उसकी भयंकर भूल है। हर संस्था के सदस्यों का लक्ष्य, संस्था को गतिशील रखने का होना चाहिए, चाहे पदाधिकारी कोई भी क्यों न हो। यदि पक्षा-पक्ष के कारण कोई संस्था को हानि पहुंचाता हो तो वह उस संस्था का सदस्य बने रहने के लायक नहीं है। स्वतन्त्रता में जैसे व्यक्ति को स्वातंत्र्य है, वैसे ही उसे यह भी समझना चाहिए कि वह दूसरों के हितों को भी अनदेखा ना करे, तभी सच्ची स्वतन्त्रता का अनुभव हो सकता है। हमारे जीवन से भी यह झलके कि हम स्वतन्त्र हैं, गुलाम नहीं हैं। साथ ही हम दूसरों को गुलामी में जीने के लिए मजबूर भी नहीं करेंगे।

हमारे यहां कार्यरत कर्मचारी को भी गुलामी का अहसास नहीं होने देंगे। वे हमारे सहचर हैं। ऐसा हम उनके साथ व्यवहार करेंगे।





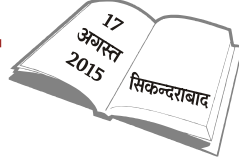
अध्ययन के प्रति उद्यम हो



हमें सिद्धान्तों से परिचित होना बहुत जरूरी है। इसके लिए यदि अन्य कुछ भी पुरुषार्थ न हो सके तब भी कम से कम आधा घण्टा आगमों का अध्ययन अवधानतापूर्वक अवश्य किया जाए। मत भूलिए कि बूंद-बूंद करके घड़ा भर जाता है। एक-एक पाई को जोड़ते रहने पर एक दिन अच्छी खासी रकम इकट्ठी हो सकती है। अतः अध्ययन के लिए अधिक न भी हो तो बिना छोड़े प्रतिदिन आधा घण्टा करने का लक्ष्य तो रखना ही चाहिए। यदि हो सके तो स्वाध्याय के समय प्रेरणा देने वाली पंक्तियों को रेखांकित करें अथवा अपनी डायरी में उसे सुरक्षित स्थान दें। जब भी हमें अपने में प्रेरणा की आवश्यकता लगे, तब डायरी के उन पन्नों को सरसरी निगाह से देख लें, अवश्य प्रेरणा मिलेगी। परेशानी में समाधान मिलेगा। आगे बढ़ने की राह मिलेगी। जिन्दगी को सुधार और संशोधन के अवसर प्राप्त होंगे।

आगमों में रहे संकेतों-सूचनाओं को हस्तगत करें। उन पर विचार, मनन करें। इससे हमारे में समझ विकसित होगी। अध्ययन जितना गहरा होगा, जीवन पर उसका उतना ही गहरा प्रभाव भी होगा। जीवन अशान्ति से शान्ति का सुखद अनुभव कर पाएगा। यदि समय हो तो अध्ययन का समय बढ़ाएं। अपने मस्तिष्क को लाइब्रेरी बना लें। प्रश्न होता है कि क्या मन को लाइब्रेरी बनाने मात्र से जीवन में बदलाव आ जाएगा? क्या उससे दृष्टि बदल जाएगी? आज यह प्रच्छा जो की जा रही है, उसे एक वर्ष बाद की जाए तो ज्यादा उचित रहेगा। तब यह होगा कि प्रेरणा लेने की बजाए हमारे भीतर प्रेरक भाव जागृत होंगे। यानी उस समय हम स्वयं प्रेरणा देने वाले बन जाएंगे। कहा जाता है 'खोदत-खोदत कुआं और घोटत-घोटत विद्या।' विद्या को बार-बार जितना पढ़ा जाएगा, उसमें से नए-नए सूत्र प्राप्त होते जाएंगे। एक बार का भी पढ़ा हुआ व्यर्थ नहीं जाएगा। जितना पढ़ेंगे वह सार्थकता की ओर ही ले जाने वाला होगा, इसलिए अध्ययन पर पूरा जोर देना आवश्यक है।



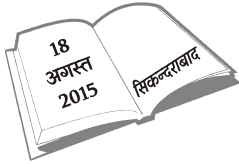


पक्के फर्श पर पड़ा हुआ पानी शीघ्र बहकर निकल जाता है। वह फर्श को क्षति नहीं पहुंचाता, अपितु उससे फर्श साफ होकर उसमें चमक भी पैदा हो जाती है। दूसरी तरफ काली मिट्टी पर पड़ा पानी उसको पोली बना देता है। उस पर आवागमन होने पर वह कीचड़ बन जाता है। इसी प्रकार जो मन पक्के फर्श की तरह मजबूत होता है, सुदृढ़ होता है, उसे पुण्य-पाप यानी कर्मों का विपाक प्रभावित नहीं कर सकता। वह कर्म-विपाक शरीर आदि पर अपना असर दिखाकर आत्मा से अलग हो जाएगा।

जो मन काली मिट्टी की तरह कच्चा होता है, वह पुण्य-विपाक के समय हर्षित एवं गर्वित हो जाता है, जबकि पाप के परिपाक के समय, कष्ट, विपत्ति आपदा के क्षणों में वह विचलित हो जाता है। उस समय उसकी शकल देखने लायक होती है। ज्ञान दृष्टि से विचार करें तो धूप-छांव की तरह पाप-पुण्य का उदय भाव चलता रहता है। उसे सम भाव से सह लेना चाहिए। उसके उदय से गर्व या गम करना अपने मन में कीचड़ पैदा करना है। उससे हानि के अलावा अन्य कुछ भी नहीं होना है। ज्ञान दृष्टि यह विचार करती है कि बीज मेरे ही बोये हुए हैं, मुझे ही भोगने पड़ेंगे। बैंकों से मकान, गाड़ी, फैक्ट्री आदि के लिए कर्ज लेना आसान है, किन्तु जब किशतों में कर्ज चुकाने का समय आता है तो भारी लगने लगता है।

वैसे ही कर्म बांधना आसान है, किन्तु इसका परिणाम सुखकर नहीं होता। कर्म चाहे शुभ रूप पुण्य फल देने वाले हों या पाप रूप, कर्म कर्म ही है। उससे आत्मा को तटस्थ रखने का लक्ष्य होना चाहिए। उसमें तटस्थ तभी रहा जा सकता है, जब मन रूपी फर्श सशक्त हो, सुदृढ़ हो। वह दृढ़ता आती है इच्छाओं के निरोध से और मन की परत शिथिल होती है आर्त-भाव से। आर्तता भौतिक अभिलाषाओं से बनती है। शिथिल मन सुदृढ़ हो सकता है, होता है। वह सुदृढ़ होता है सत्य से, संयम से। इनका जितना आसेवन होगा, मन की परत उतनी ही सुदृढ़, सशक्त बनती चली जाएगी। अतः मन को फर्श की तरह सुदृढ़ बना लें।





दृष्टि को बनाएं पारखी



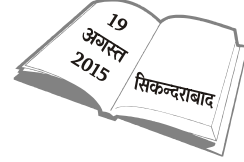
पारखी दृष्टि के लिए अनुभव होना जरूरी है। एक पत्थर को सामान्य व्यक्ति पत्थर के रूप में ही देखता है जबकि जौहरी उसमें रहे हुए हीरे को देखता है। इसी तरह सामान्य व्यक्ति जिसे पत्थर मानते हैं, मूर्तिकार उसमें मूर्ति को देख रहा होता है।

वर्षा होते देख अन्य लोग कुछ भी देखें, किन्तु किसान उसमें फसल को ही देखता है। एक काष्ठ को सामान्य आदमी काष्ठ ही मानता है, किन्तु खिलौने बनाने वाला उसमें अनेक खिलौनों को देखता है। स्पष्ट है कि सबके अपने-अपने अनुभव होते हैं। उसी के आधार पर उनकी दृष्टि काम करती है। जिसकी दृष्टि पुद्गल में रंग-रूप को देखने तक ही सीमित रहती है, वह पुद्गल की अन्यान्य शक्तियों को नहीं देख सकता।

वैज्ञानिकों ने 'अणु बम' का निर्माण किया। परमाणु परीक्षण हुए। उन्होंने उस पुद्गल विशेष में रही हुई उस शक्ति को देखा। वह दृष्टि उन्हें एक दिन में प्राप्त नहीं हुई। उन्होंने उस विषय पर निरन्तर अभ्यास किया, शोध किया, तब उन्हें वह तथ्य ज्ञात हो पाया। इसी प्रकार आत्म-तत्त्व के संदर्भ में भी जानना चाहिए। जब हमारी दृष्टि उस ओर मुड़ेगी तो पुद्गल के प्रति रही हुई प्रीत स्वतः मंद पड़ जाएगी, समाप्त हो जाएगी। उस समय उसे पुद्गलों से कोई लगाव नहीं रह जाएगा। वह 'उच्छूठ शरीरे' बन जाएगा, यानि शरीर के प्रति भी उसका कोई लगाव नहीं रह जाएगा।

यदि दृष्टि का परिमार्जन हो जाए तो जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन आ सकता है। तब उसके पास क्या नहीं है, वह महत्त्वपूर्ण नहीं होता। वह यह देखता है कि उसके पास जो है, उसका क्या उपयोग हो सकता है। हम विचार करें हमें जो प्राप्त है, क्या उसका सम्यक उपयोग हो रहा है। यदि नहीं तो और मिल भी गया तो क्या होगा? जो पांच इन्द्रियां मिली हैं उनका अध्यात्म दृष्टि से क्या उपयोग हो रहा है? हमारी जिज्ञासा ही हमारी दृष्टि को पारखी बना सकती है।





आंख में यदि ज्योति न हो तो सूर्य का प्रकाश उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता, उससे कोई लाभ नहीं हो सकता। अमावस्या की रात वैसे ही अंधेरी होती है, उसके साथ यदि घटाटोप बादलों का संयोग बन जाए तो वह अंधेरा और सघन हो जाता है।

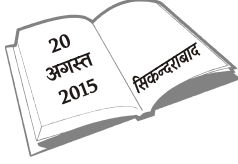
मोह का तीव्र उदय भाव हो, उस समय ज्ञानावरणीय आदि का भी गहन उदय भाव हो तो जीव को जीव होने का अहसास नहीं हो पाता। वह जान ही नहीं पाता कि वह जीव है, वह चैतन्य लक्षण वाला है। वैसी अवस्था में सूर्य के समान केवलज्ञानी भगवान से भी वह सद्बोध नहीं पा सकता। उस अज्ञान, अंधकार में व्यक्ति, जीव जो भी गति, क्रिया करता है वह तेली के बैल के समान अथवा सुबह के भ्रमण के समान हुआ करती है। उसकी गति का लक्ष्य नहीं होता।

इसलिए वह कितना भी चले पर उसे यात्री नहीं कहा जा सकता। यात्री उसे ही कहा जा सकता है जिसकी गति, क्रिया सोदेश्य हो।

आध्यात्मिक क्षेत्र में वह दशा सम्यक्त्व के प्राप्त होने पर ही हो पाती है। तभी उसका लक्ष्य बन पाता है। तभी वह जान पाता है कि वह कौन है? उसे कहां जाना है? और उसके लिए उसे क्या करना सही है? क्या करना चाहिए?

सम्यक्त्व की आंख प्राप्त होते ही वह केवल लोक से प्रवाहित होने वाले आलोक से स्वयं को आलोकित करने लगता है। उस समय वह वस्तु को केवल वस्तु रूप में ही नहीं देखता, बल्कि उसमें रहे हुए नित्यत्व, अनित्यत्व आदि पर भी विचार करता है, जिससे उसका अनुभव गहरा होता जाता है। उसकी आस्था अमृत की दिशा में उसे अग्रसर करती है। वह सम्यक्त्व रूपी नेत्र ज्योति सद्गुरु के द्वारा प्रवचन, अंजन आंजे जाने पर ही प्रकट हो पाती है।



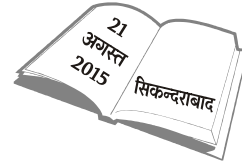


विनीत को दे श्रुत का साज

64

विनय का अर्थ बताते हुए कहा गया है - विनयति अपनयति, यानी जो दूर हटाता है अर्थात् जो आठ प्रकार के कर्म ग्रंथि को दूर करता है, वह विनय है। सरल भाषा में कहें तो जो अहंकार, इगो की ग्रन्थि को छोड़ देता है, छेदन कर देता है, वह विनयी होता है। अहंकार की ग्रन्थि का भेदन एक मात्र विनय से ही हो सकता है, इसलिए जो इस ग्रन्थि का भेदक होता है, वह विनयी या विनेय कहा जाता है। ऐसा विनयवान श्रुत-ज्ञान का अधिकारी होता है। दूध उसे ही पिलाना उचित रहता है, जो दूध को पचा सके। घृत आयु को सुरक्षित रखता है, किन्तु कब ? तब जब कि वह पच सके। इसी प्रकार श्रुत ज्ञान भी संसार से मुक्त कराने वाला होता है, बशर्ते वह पच जाए। इसलिए जो श्रुत को पचा सके, उसे ही श्रुत दिया जाना चाहिए। श्रुत को विनयवान ही पचाने में समर्थ होता है। अतः जो विनयी हो उसे श्रुत अवश्यमेव देना चाहिए। इससे तीर्थ की प्रभावना होती है, तीर्थ का उच्छेद नहीं होता। यदि विनयवान को श्रुत नहीं दिया जाएगा तो श्रुत के विच्छेद का प्रसंग बन जाएगा। श्री वृहत्कल्प भाष्यकार भी इस पर जोर देते हैं। प्रश्न होगा जिसने अहंकार की ग्रंथि का भेदन नहीं किया है या जो नहीं कर पाया है, क्या उसे श्रुताभ्यास नहीं करवाया जाना चाहिए। यदि उसे श्रुताभ्यास नहीं करवाया जाएगा तो उसके ज्ञान चक्षु उद्घटित कैसे होंगे ? इसका उत्तर होगा - जिसके आंख में मोतियाबिंद हो जाता है, वह सूर्य-चन्द्र को भी स्पष्ट नहीं देख पाता। समीप में रहे हुए पदार्थों को भी वह सम्यक प्रकार से नहीं देख पाता है। इसी प्रकार जिसको अविनयी का मोतियाबिंद होता है, वह तत्त्व को सम्यक्तया जान ही नहीं पाएगा। वैसी स्थिति में उसके प्रति किया गया परिश्रम व्यर्थ ही होगा। ऐसी स्थिति में प्रति प्रश्न होता है कि क्या अविनीत के प्रति आचार्य का कोई दायित्व नहीं बनता ? बिना विद्या के विनय आएगा भी कैसे ? इसका उत्तर है कि उसमें विनय की प्रवृत्ति बने, इसके लिए आचार्य उसे विवेक की शिक्षा से अनुप्राणित करें। उससे भावित होने पर यदि उसके अविनय दोष का परिहार हो जाए, वह विनीत हो जाए तो उसे श्रुत ज्ञान से अनुप्राणित किया जा सकता है।





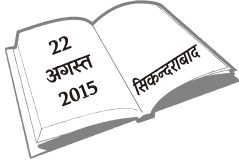
संधारे को राजस्थान हाईकोर्ट ने जब से आत्महत्या के अन्तर्गत माने जाने का निर्णय दिया है, तब से उस विषयक चर्चाएं होती रहती हैं। संधारे के सम्बन्ध में तटस्थ विचारणा इस नतीजे पर पहुंचती है कि संधारा आत्महत्या नहीं है। संधारे का सम्बन्ध न जीवन से है, न मृत्यु से। वह तो आत्मरक्षा का एक उपाय है। जो यह मानते हैं कि मृत्यु को वरने के लिए उसे स्वीकार किया जाता है, वह उचित नहीं है; क्योंकि संधारे की प्रतिज्ञा में यह स्पष्ट कहा गया है कि - 'काल की आकांक्षा नहीं करते हुए।' इससे यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वह मृत्यु का आकांक्षी है ही नहीं।

पर हां, वह जब यह जान लेता है कि मौत बेरहमी से आती है, वह किसी के साथ रहम करती ही नहीं है तो उससे कैसे बचा जा सके कि वह उसके साथ बेरहमी से पेश न आए।

चैर्य कार्यों में रत व्यक्ति उन्हीं के साथ बेरहमी का बर्ताव करते हैं जिनके पास धन हो और वे सीधे-सीधे देने को तैयार न हों। पर जिनके पास धन ही न हो तो चोर उसे क्या प्रताड़ित करेंगे? इसी प्रकार जो मोह-माया रूपी सम्पत्ति से जुड़ा रहता है, वह उसे सहजता से छोड़ना नहीं चाहता। उसे ही मृत्यु का रवैया बेरहमी का लगता है। अथवा यूं कहें तो मौत उन्हीं के साथ बेरहमी करती है किन्तु जो मोह-ममता को छोड़ देता है तो मृत्यु स्वयं शिथिल हो जाती है। वह बेरहमी करे तो भी किस पर? ऐसा जानकर जो आत्म-भावों में स्वयं को भावित करते हुए मोह ममत्व को दूर करने के लिए उद्यमशील हो तो क्या वह अपराध हो सकता है? नहीं, कभी नहीं। वह तो आत्मरक्षा का रूप है।

संधारा भी इसी प्रकार आत्मरक्षा का रूप है। उसे आत्महत्या की संज्ञा देना, उससे जोड़ना, उसके साथ न्याय नहीं कहा जा सकता। न्याय केवल शब्दों के आधार पर ही नहीं होना चाहिए। शब्दों के पीछे भावना क्या है, उस पर भी विचार करना चाहिए। तभी सच्चा न्याय हो सकता है।



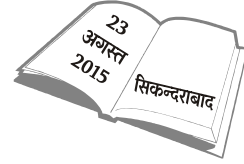


जो भला करे वह लाभ

66

लाभ का अर्थ है, जिससे भला हो। जिसके प्राप्त होने पर भला हो, अच्छा हो, वह लाभ है। लाभ द्रव्य और भाव दो प्रकार का होता है। द्रव्य लाभ-अर्थादि के भेद से अनेक विद्य है। भाव लाभ समभाव रूप है। द्रव्य लाभ-अलाभ वशात् अनेक विषमताएं अन्तर में पैदा हो जाती हैं। उन विषमताओं के कारण मानसिक ऊहापोह बनी रहती है। मन भय, आशंका आदि का शिकार हो जाता है। उन सब से जब निवृत्ति होती है, तब समभाव-आत्म स्वभाव की प्राप्ति होती है। वास्तविक लाभ समभाव ही है। बाह्य भाव तात्कालिक-इत्वरकालीक फलदायी होता है। उससे अल्पकालिक राहत मिल सकती है। मिल ही जाती है, यह नहीं कह सकते। पर वह तात्कालिक राहत दीर्घकाल तक भोगने योग्य दुःख को भी पैदा करने वाली हुआ करती है। उदाहरण के रूप में खुजली खुजलाते हुए बड़ी मीठी लगती है पर उसके बाद दुःखद परिणाम देती है। यह भली-भांति अनुभूत है। आत्मा में विषम भाव भी उस तात्कालिक राहत या लाभ के कारण से ही उद्भूत होते हैं। अर्थादि का लाभ सदा-सर्वदा साथ नहीं देता है। आज है, कल रहेगा या नहीं, कहना कठिन है। अर्थ को उपार्जित करते समय भी अधिकांश लोग नैतिकता का परित्याग कर देते हैं। अनैतिक तरीकों से होने वाला लाभ अत्यन्त हानिदायक होता है। उससे आत्म-विश्वास मंद पड़ जाता है। भय की छाया सदा लगी रहती है। अर्थ का कोई हरण न कर ले, यह चिन्ता भी सताती रहती है। चित्त उसी में लीन हो जाता है। उसका स्वयं का अस्तित्व विस्मृत हो जाता है। इतना ही नहीं अनैतिक तरीके से आया हुआ धन, बाहर निकलने के अनेक रास्ते बना लेता है। जैसे अपरिशोधित पारद देह को फोड़कर बाहर निकल जाता है, वैसे ही अनैतिक तरीके से प्राप्त धन आत्मा के समभाव-शान्ति को छिन्न-भिन्न करता हुआ विभिन्न रूप से हाथ से निकल जाता है। शारीरिक, मानसिक बीमारियों का भी वह साधक है। अतः भाव लाभ, जो श्रुताभ्यास, श्रुत-ग्रहण से होता है, उसे ही प्रधानता देनी चाहिए। वही साध्य होना चाहिए। उसके लिए ही प्रयत्न व पुरुषार्थ होना चाहिए। उसी का लाभ, भला कर सकता है, अर्थ का लाभ नहीं।





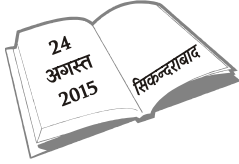
श्रुताभ्यास से आठ गुणों की प्राप्ति होने का कथन भाष्यकार ने किया है। वे आठ गुण हैं - आत्म-हित, परिज्ञा, भावसंवर, नया-नया संवेग, निष्कम्पता, तप, निर्जरा और परदेशकत्व।

मोह आत्मा का अहित करने वाला है। यह तब तक ज्ञात नहीं हो पाता जब तक व्यक्ति श्रुताभ्यास न करे। जब श्रुताभ्यास होता है, तब उसे ज्ञात होता है कि मोह से अब तक मेरा कितना अहित हो चुका है। ऐसा अनुभव होते ही उसकी प्रज्ञा हिताहित की चिंता करने वाली बन जाती है। हिताहित का सोच श्रुत अध्ययन से ही संभव है। उसी चिन्तन में वह घेवरिया मुनि की तरह भाव संवर की तरफ अभिमुख होता है। श्रुत-ग्रहण करते रहने से नया-नया संवेग-संसार के प्रति औदासिन्य भाव पैदा होता है, जिससे अविचलता, निष्प्रकम्पता गुण प्रकट होता है। संसार में आने वाली कठिनाईयों, विपत्तियों में उसका मन विचलित नहीं होता। स्वाध्याय तप है ही। साथ ही इच्छा निरोध-संतोष आदि रूप तप के आनुषंगिक गुणों का स्वामी भी जीव सहज ही बन जाता है। तप से निर्जरा होती ही है। साधक का उद्देश्य कर्म निर्जरा का ही होता है। बंधी हुई आत्मा को मुक्त कराने के उद्देश्य से ही उसके सारे कार्य हुआ करते हैं। इस प्रकार आत्मगुणों के संग्रह से वह दूसरों को सद्बोध देने का अधिकारी भी बन जाता है। ये सारे गुण श्रुताभ्यास से ही प्रकट हो पाते हैं। अतः प्रत्येक प्राणी को कमोवेश अपने सामर्थ्यानुसार श्रुत-ग्रहण का लक्ष्य रखना ही चाहिए।

जो लोग स्वयं पर विश्वास न कर यह सोचते हैं कि मैं श्रुताभ्यास कर ही नहीं सकता, उन्हें भी पुस्तक हाथ में लेकर उस पर दृष्टि निक्षेप अवश्य करनी चाहिए। यदि तब भी रुचि न जगे तो एकाध पेज बिना मन के भी पढ़ने का लक्ष्य बनाना चाहिए।

आत्मविश्वास रखें कि मैं अवश्य पढ़ पाऊंगा। मैं अवश्य श्रुत-लाभ उठा पाऊंगा। यह विश्वास है कि एक बार रुचि जग गई तो श्रुत अध्ययन हमारा अनिवार्य दैनिक कार्य बन जाएगा।





क्या है पुरुषार्थ

68

पुरुषार्थ का सही अर्थ क्या है? यह एक प्रश्न है। इस सन्दर्भ में जो अनुभव हुआ, वह कुछ इस प्रकार है। पुरुषार्थ का अर्थ प्रयत्न से मिलता-जुलता है। कार्य को सिद्ध करने के लिए अपने में तदनु रूप उत्साह का संचार होना।

यदि शब्द की दृष्टि से विचार करें तो आगमों में आत्मा को पुरुष कहा गया है। 'पुरिसा तुममेव तुमं मितं किं बहिया मितमिच्छसि' यहां पुरिसा-पुरुष शब्द आत्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है।

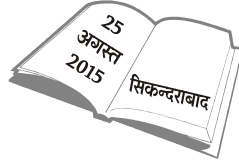
इस दृष्टि से विचार करने पर पुरुषार्थ का यह अर्थ फलित होता है कि जो कार्य आत्म-प्रयोजन के लिए किया जाए, वह पुरुषार्थ है। सांसारिक, भौतिक कार्यों के लिए उत्साहपूर्वक जो क्रिया की जाती है, उसे प्रयत्न-प्रयास आदि रूप में समझना चाहिए। इसके विपरीत जो आत्मोत्थान के लिए सोत्साह प्रयत्न विशेष किया जाता है, होता है, उसे पुरुषार्थ मानना चाहिए।

पुरुषार्थ का गहरा सम्बन्ध आत्मोत्थान से है। आत्म-जागरण के लिए, आत्म विकास आदि के लिए जो भी प्रयत्न होता है, वह प्रयत्न चूंकि आत्मा-पुरुष के प्रयोजन-अर्थ से हुआ है अथवा हो रहा है, इसलिए उसे पुरुषार्थ की संज्ञा देना उपयुक्त ही है।

एक व्यक्ति सामायिक, पौषधादि के लिए उद्यम कर रहा है। दूसरा व्यक्ति धन कमाने की भावना से उद्यम कर रहा है। तीसरा व्यक्ति अपनी प्रसिद्धि के लिए प्रयत्न कर रहा है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न व्यक्ति भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए प्रयत्नरत होते हैं। इनमें पहला कार्य आत्मा के लिए है।

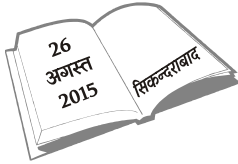
सामायिक या पौषध आत्मगुणों के पोषक हैं। इसलिए उनके निमित्त से जो भी प्रयास किया जा रहा है, उसे पुरुषार्थ कहा जाना चाहिए। अन्यान्य कार्यों के लिए जो उद्यम किया जा रहा है, उसे उद्यम, प्रयास, प्रयत्नादि शब्दों से व्यक्त किया जाना चाहिए।





पदार्थ में ज्ञेयत्व गुण होता है। उसी से वह ज्ञान का विषय बनता है। यदि ज्ञेयत्व गुण नहीं हो तो पदार्थ ज्ञान का विषय नहीं बन पाएगा। ज्ञान से ज्ञेयत्व का सम्बन्ध होता है। जिसे प्रज्ञा के माध्यम से हम जान पाते हैं। प्रज्ञा या परिज्ञा, दोनों ही शब्दों का प्रयोग होता है। प्रज्ञा का निर्वचन होगा प्र-प्रकर्षेण ज्ञा-ज्ञायते अनया सा प्रज्ञा। जिसके द्वारा प्रकर्ष रूप से जाना जाए, वह प्रज्ञा है। प्रकर्ष रूप से जो जाने, वह प्रज्ञा है। सामान्य बुद्धि को इसमें स्वीकार नहीं किया गया है। इसे यूं भी कहा जा सकता है - जानने की शक्ति जो परिष्कृत हो चुकी हो, वह प्रज्ञा या परिज्ञा है। अथवा जो परितः चारों ओर से यानी अनेक प्रकार से पदार्थ को जाने वह परिज्ञा है। अनेक रूप से वही परिज्ञा जान सकती है, जो परिष्कृत हो गई हो या पवित्र हो गई है, जिसमें पारदर्शिता पैदा हो गई। ऐसी क्षमता श्रुताभ्यास से पैदा होती है। श्रुत में वह ताकत है कि उससे काल का भी ज्ञान हो सकता है। घंटा-मिनट आदि को जानने के लिए न घड़ी की आवश्यकता होगी, न आकाश को देखने की। धर्म-घोषाचार्य से शिष्यों ने धर्मरुचि मुनि के स्वर्ग प्रयाण के संदर्भ में पूछा था कि भंते वे धर्मरुचि अणगार जो प्रकृति से भद्रिक थे, सरल थे। वे यहां से कालधर्म को प्राप्त कर कहां गए, कहां उत्पन्न हुए? धर्म-घोषाचार्य ने श्रुत के बल पर बताया कि वे महात्मा अनुत्तर विमान में अनुत्तर विमानवासी देव के रूप में उत्पन्न हुए हैं। इतना ही नहीं, श्रुताभ्यास से साधक अपनी आयु की पूर्णता का भी आभास पा सकता है। इसके अनेक उदाहरण आगमों में समुपलब्ध हैं। मुनि को लगता है कि अब उसका आयुष्य लम्बा चलने वाला नहीं है, तो वह गुरु चरणों में वंदन-नमन करते हुए निवेदन करता है - 'भंते! आपकी अनुज्ञा हो तो मैं अपश्चिम मारणांतिक संलेखणा को स्वीकार करना चाहता हूं।' काल की अनुभूति आदि विषयक उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जिसकी प्रज्ञा/परिज्ञा पारदर्शी बन चुकी होती है, जिस पर से राग-द्वेष का आवरण मंद पड़ गया होता है, जो निरन्तर श्रुत में अवगाहन करती रहती है, ऐसी प्रज्ञा वस्तुतः पवित्र बन गई होती है, परिष्कृत हो गई होती है। परिणामस्वरूप तत्त्व को सम्यग् प्रकारेण-'प्रकर्ष' किंवा 'अनेक विध' से जानने में समर्थ बन जाती है।





भाव संवर का भव्य रूप

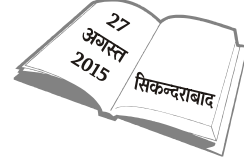
70

संवर के दो रूप माने गए हैं – द्रव्य संवर एवं भाव संवर। द्रव्य संवर को भी दो प्रकार से माना जाता है – पहला – वह कर्म वर्गणा, जो आत्मा के साथ संयुक्त होने वाली थी, उसका रुक जाना और दूसरा – जो भाव शून्य हो। जैसे कोई व्यक्ति साधु की पोशाक मात्र पहनकर प्रतिज्ञा पाठों से प्रतिज्ञा कर उसका पालन भी करता है, किन्तु वह पालना आन्तरिक नहीं होती, यानी अन्तर में उसका उद्देश्य संवर का न होकर पुण्य-लाभ का होता है। इस प्रकार से वह व्यावहारिक धरातल पर संवर से युक्त माना जाता है, लेकिन भाव शून्य होने से वह द्रव्य संवर ही माना जाता है। अनुपयुक्त दशा में चल रहा साधक भी एक प्रकार से द्रव्य संवर का ही रूप है।

भाव संवर इसके विपरीत होता है। हिंसादि क्रियाओं से युक्त नहीं होना, उपयोग पूर्वक संयम में रत रहना, संवर के उद्देश्यपूर्वक क्रियाओं को करना, ये सारी अवस्थाएं भाव संवर के रूप में स्वीकार्य हैं। भाव संवर भी दो प्रकार का है, देश भाव संवर एवं सर्व भाव संवर। सम्यक्तव, अणुव्रतादि का सम्यक परिपालन देशतः भाव संवर है।

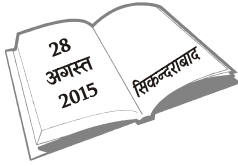
सम्पूर्ण आश्रवों को रोकने में समर्थ योग और कषाय परिचालन न होना यानी अयोगी-अकषायी की अवस्था की प्राप्ति हो जाना, सर्व भाव संवर का उत्कृष्ट रूप है। यदि उक्त प्रकार की अवस्था सर्वतः भाव संवर उत्कृष्ट रूप है तो क्या इसका अन्य रूप भी है। हाँ, कदाचित् उसके अन्य रूप भी हैं। सराग संयम, जिसमें अशुभ योगों की निवृत्ति हो जाती है, वह अशुभ योगों की निवृत्ति जन्य जघन्य सर्वतः भाव संवर का रूप है। अकषाय-वीतराग दशा प्राप्त साधकों के जो सर्वतः भाव संवर होता है, उसे मध्यम रूप में माना जाना चाहिए। क्योंकि साता वेदनीय कर्म अत्यल्प समय के लिए भी उस समय भी आत्मा से संयुक्त होते रहते हैं। यद्यपि वहाँ हिंसादि का सर्वथा परिहार होता है, फिर भी योग प्रवृत्ति होने से अल्प सामयिक साता वेदनीय कर्म का आत्मा से सम्बन्ध जुड़ता रहता है। अतः सर्व भाव संवर पूर्ण अयोग अवस्था में ही संभव है।





पान के सड़ गए अंश को पनवाड़ी काट देता है। क्यों काट देता है, ऐसा प्रश्न हो सकता है? उस पान के शेष हिस्से व अन्य पानों की सुरक्षा के लिए उसे वैसा करना होता है। पान के उस अंश के प्रति उसका द्वेष है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जो आम, अन्य फल अथवा सब्जियां सड़ने लगे, उनके उस भाग को यदि अलग नहीं किया जाए तो शेष भाग को सड़ते देर नहीं लगेगी। कैंसर शरीर के जिस अवयव में हो जाए, उसके लिए उपचार का अन्य कोई उपाय न रहने पर डॉक्टर उस अवयव को शरीर से अलग कर देता है। चाहे वह गुर्दा हो या गर्भाशय या अन्य कोई भी अवयव क्यों न हो। डॉक्टर उस अवयव को इसलिए शरीर से अलग कर देता है कि शरीर के दूसरे भाग में वह बीमारी न फैले। यद्यपि अन्य उपायों से जब तक बचाव हो सकने की संभावना हो, तब तक उस अवयव को भी बचाने का प्रयत्न होता है, लेकिन जब अन्य उपाय कारगर होने की स्थितियां क्षीण हो जाएं एवं ऑपरेशन ही एकमात्र विकल्प बच जाए तो जीवन रक्षा के लिए उस अवयव का मोह त्यागना जरूरी हो जाता है। उस समय यदि उस अवयव के प्रति राग रखा जाएगा तो जीवन को खतरा खड़ा हो सकता है। अतः जीवन को बचाने के लिए बीमार व्यक्ति उस अवयव को शरीर से विलग करने की अनुमति देता है एवं डॉक्टर भी जीवन रक्षा को लक्ष्य में रखकर उस अंग विशेष को तन से अलग कर देते हैं। संघ-समाज भी अनेक अवयवों का समुदाय रूप हैं। उसमें भी बीमारी आती रहती है। उपचार भी होते रहते हैं। आलोचना-प्रतिक्रमण-प्रायश्चित आदि रूप औषधियों के प्रयोग से जब तक बीमारी साध्य होती है, वैसा किया जाता है। किन्तु जब बीमारी असाध्य हो जाए तो उसके लिए शास्त्रकार यह राय, निर्देश देते हैं कि संघ की सुरक्षा के लिए उस अंग को दूर किया जाए। अर्थात् उसके साथ सम्बन्ध नहीं रखे जाएं। ऐसा शास्त्रकारों का निर्देश है। उसका पालन करने के लिए मन को कड़ा करना ही पड़ता है, क्योंकि अन्य उपायों से वह बीमारी दूर होने वाली नहीं थी। लाईलाज बन गई थी, अतः ऑपरेशन अनिवार्य हो जाता है।





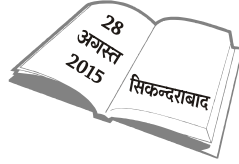
ऐसा होना अनहोना नहीं



दीक्षा देने के पूर्व जब वैरागी को देखा-परखा जाता है तो दीक्षा के बाद ऐसा क्या हो जाता है कि उनके साथ सम्बन्ध विच्छेद जैसी स्थितियां पैदा हो जाती हैं, ऐसा प्रश्न उठता है। ऐसा प्रश्न उठना स्वाभाविक भी है। जब इतिहास के पृष्ठों को पलटते हैं तो स्थिति स्पष्ट हो जाती है। क्षायोपशमिक भाव में उतार-चढ़ाव आ जाया करते हैं। आज जो गलत रास्ते पर है, वह कल सही रास्ते पर आ सकता है। इसके विपरीत सही मार्ग पर चलने वाला गलत मार्ग पर कदम बढ़ा लेता है। भगवान महावीर का जंवाई जमाली ने उत्कृष्ट संवेग से दीक्षा ली, किन्तु कालान्तर में मति विपरीत हो गई। आर्द्रकुमार ने महान् संवेग से अनगार प्रव्रज्या ग्रहण की, किन्तु कर्म के क्रूर हाथों ने उनको ऐसा झटका दिया कि वे योगी से भोगी बन गए। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि थे, किन्तु पुत्र-मोह में आक्रान्त हो गए। यद्यपि वह स्थिति अल्पसामयिक थी, तद्यपि वह स्थिति नरक प्रायोग्य कर्म बंधाने वाली बन गई। साधुता कब कैसे खिसक गई, पता ही नहीं चला।

इन ऐतिहासिक पृष्ठों से यह अनुभव होता है या समझ में आता है कि कुम्हार जितने घड़े बनाता है, वे सारे के सारे पकते नहीं हैं। कोई बीच में ही टूट जाता है, तो कोई-कोई अवाडे तक जाते-जाते या उसमें से निकलते टूट-फूट जाता है। लेकिन टूटने-फूटने वालों से निष्पत्ति तक पहुंचने वालों की संख्या ज्यादा है। अतः कुछेक टूट-फूट भी जाएं तो कुम्हार शोक नहीं मनाता। यद्यपि वह चाहता तो यही है कि एक भी घड़ा न टूटे-फूटे, किन्तु आखिर घड़े मिट्टी के ही तो हैं, टूट-फूट जाते हैं। इसी प्रकार दीक्षा लेने वालों में निष्पत्ति तक पहुंचने वाले ज्यादा हैं, टूटने-फूटने वाले कम। औदयिक और क्षायोपशमिक भावों की तीव्रता, मंदता के कारण ऐसी स्थितियां निर्मित हो जाती हैं। कोई गुरु-आचार्य यह नहीं चाहता कि उसकी निश्रा में चलने वाला एक भी साधक इधर-उधर भटके, किन्तु कर्म का चक्कर कब किसको किधर घुमा देता है, कह नहीं सकते। कर्मोदय से संत जीवन में अकरणीय भी हो जाया करता है। अतः उचित है कि पारिणामिक भावों में स्वयं को बनाए रखें।

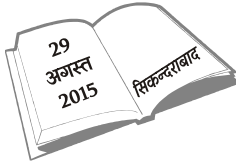




श्रुताभ्यास से संसार की असारता-नश्वरता का पूरा नक्शा सामने आ जाता है। श्रुताभ्यास से पैनी बन चुकी दृष्टि में पुद्गल का सड़ा-गला रूप, शरीर का वार्धक्य व जीर्ण-शीर्ण अवस्था छुपी नहीं रह पाती। उससे संवेग और निर्वेद के भाव गहरे होते हुए चले जाते हैं। संयमी जीवन के पूर्व भी संवेग भावों की महती आवश्यकता होती है। यदि यह कहूँ कि संयमी जीवन के लिए सबसे प्राथमिक जरूरी कोई चीज/अवस्था है तो वह है संवेग। संवेग के बिना संयमी जीवन शून्य पर रहता है। संवेग के संयोग से वही शून्य अनन्त आत्म-शुद्धि की दिशा में आगे बढ़ जाता है। दीक्षा के पश्चात् भी संयमी जीवन में संवेग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि संवेग न रहे तो संयम टूट के समान बन जाता है। संयम को यदि शरीर की उपमा दी जाए तो संवेग को प्राण की उपमा देना सर्वथा संगत है। वह संवेग श्रुताध्ययन से गहराता जाता है। मिथ्या दृष्टि को सम्यग्दृष्टि बना देता है, सम्यक्त्व की को देशविरति-किंवा सर्व विरत संयत बना देता है। संयत को अप्रमत और अप्रमत को श्रेणी पर आरोहित करा देता है। इतना ही नहीं संवेग के बल पर ही वीतरागता और सर्वज्ञता के भव्य पुष्प खिला करते हैं।

नमि राजर्षि को उसी संवेग ने आत्म-पाथेय दिया। करकण्डू नृप को उसी से आत्म-बोध जगा और वे अणगार-धर्म की ओर अग्रसर बन गए। संवेग वस्तु स्वरूप के चिन्तन से, अनुप्रेक्षा से वृद्धिगत होता है। जैसे आग में ईंधन डालने से वह बढ़ती है, वैसे ही संवेग रूपी ज्योति को प्रज्वलित रखने के लिए श्रुताभ्यास अत्यन्त जरूरी है। जैसे तन को टिकाने के लिए भोजन आवश्यक है, वैसे ही संवेग के लिए श्रुताभ्यास। संवेग से मानसिक ताप शान्त हो जाते हैं, भोग तृष्णा दूर हो जाती है, मेरेपन की बुद्धि तिरोहित हो जाती है, मोह का वृक्ष सूखने लगता है, धर्म रूपी वृक्ष की जड़ को सिंचन मिलता है। संवेगी जीव किसी की भी अवमानना नहीं कर सकता। वह स्वयं से पूर्णरूपेण सन्तुष्ट होता है। उसे न शारीरिक व्याधि परेशान कर सकती है न मानसिक आधि। वह आधि-व्याधि में भी अपनी मस्ती का आनन्द उठाता है।





आत्मरक्षा का श्रेष्ठ उपाय

74

‘अभओ पत्थिवा तुब्भं अभयदाया भवाहि य।’ आगम का यह सूत्र पाठ आत्मरक्षा व पर रक्षा की ओर संकेत करता है। जो दूसरों को अभय देता है, वह स्वयं भयमुक्त होता जाता है। जो दूसरों को भीत करे, वह स्वयं अभय का अनुभव नहीं कर सकता।

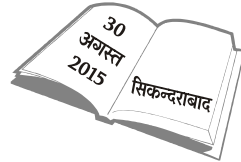
संसार का प्रत्येक प्राणी आत्मरक्षा चाहता है। ‘सव्वे-जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरिज्जुं’ – सभी जीव जीना चाहते हैं, आत्म-रक्षा चाहते हैं। कोई भी मृत्यु को नहीं चाहता। किन्तु कोई चाहे या न चाहे मृत्यु अवश्यंभावी है। उसे नकारा नहीं जा सकता। इस सत्य को जो जान लेते हैं, उनके लिए जीवन और मरण समान हो जाते हैं। वे अभय को प्राप्त हो जाते हैं। मृत्यु का भय ही नहीं, अन्य भय भी उन्हें भीत नहीं कर सकते। वे अविचल हो जाते हैं। किसी के चलाए चल नहीं जाते। मेरु की भांति उनके विचार निष्प्रकम्प बन जाते हैं। घबराहट क्या होती है उसे वे जानते भी नहीं, ऐसा कहने में कोई ऐतराज नहीं हो सकता। कल्पान्त काल का मारुत जैसे मेरु को नहीं कंपा पाता, वैसे ही कितने भी उपसर्ग आ जाएं, परिषह आ जाएं, अभय बने जीव को वे प्रकम्पित नहीं कर पाते। इस अवस्था में श्रुत का बहुत बड़ा योग है। श्रुताभ्यास से ही उन्हें वह दृष्टि मिल पाती है। चाहे वह गजसुकमाल मुनि के रूप में हो अथवा श्रावक कामदेव या सेठ सुदर्शन के रूप में। प्रश्न हो सकता है कि गजसुकमाल मुनि ने श्रुताभ्यास कब किया? उन्होंने जब दीक्षा ली, उसी दिन महाकाल श्मशान में भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा धारण कर ली थी।

श्रुताभ्यास का तात्पर्य आत्म परिणति से है, यानी वह श्रुत आत्म-रूप बन जाए। ऐसा उनको हो चुका था। उसी के बल पर वे उपसर्ग के समय निष्प्रकम्प रहे। इसमें अहिंसा के गहरे अभ्यास की भी जरूरत होती है। वह भी श्रुताभ्यास से ही हो पाती है। अतः व्यक्ति को चाहिए कि वह स्वयं अभय पथ पर आगे बढ़े व अन्यो को अभय देने वाला बने। आत्मरक्षा के लिए यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।



75

मोह करे मन को कमजोर



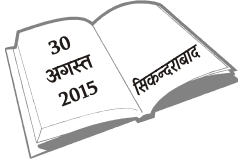
महाराणा प्रताप परम वीर योद्धा थे। मेवाड़ की रक्षा के लिए उन्होंने जिन कठिनाईयों को झेला, उनसे उनका नाम सदियों से चला आ रहा है, किन्तु धर्म की दृष्टि से विचार किए जाने पर एक महत्वपूर्ण बिन्दु उभरकर सामने आता है कि उनके जैसा अविचल शासक, योद्धा भी अपने बाल पुत्र की दर्द भरी चीख से विचलित हो गया। प्रसंग था घास की आधी रोटी का जिसे वन बिलाव जमीन से निकाल कर खा जाता है। उस समय राजकुमार अमर की चीख निकली। वह रुदन करने लगा। उसका रुदन सुनकर महाराणा ने बादशाह अकबर की अधीनता स्वीकार करने की चिट्ठी लिख दी।

यह प्रसंग यह दर्शाता है कि कोई कितना भी वीर, अजेय योद्धा हो, मोह, मेरेपन के भावों से आहत हो जाता है। मोह के समक्ष पराजित हो जाता है। मोह का भाव जैसे ही उभरता है, आत्मनिष्ठा मंद पड़ने लगती है। आत्मविश्वास हिल जाता है। जबकि श्रुताभ्यास से जिसकी प्रज्ञा पवित्र हो चुकी होती है, वे मोह के प्रसंगों पर भी विचलित नहीं हो पाते।

सेठ सुदर्शन, अर्हन्नक, कामदेवादि ऐसे अनेक श्रावकों सद् गृहस्थों के प्रसंग आगम एवं इतिहास के पृष्ठों में अंकित हैं, जिन्होंने मोह को अंगूठा दिखा दिया। मोह उनको परास्त नहीं कर पाया। उसका मुख्य कारण था उनका मेरेपन के भावों से ऊपर उठ जाना। यद्यपि वे पूर्ण रूप से उन भावों से उपरत नहीं थे, तदपि वे यह तो जान ही गए थे कि जय धर्म की ही होती है।

अधर्म का, मोह का सहारा कभी आत्म शान्ति नहीं दे सकता। हमारे भीतर चल-विचल अवस्था बनती है, हममें जो घबराहट पैदा होती है उनका मूल कारण मेरेपन का भाव है। जिनसे लगाव होता है, उनसे हम विचलित हो जाते हैं। जब अन्तर से हम उस लगाव से स्वयं को जुदा कर लेते हैं, तब हमारी अवस्था निष्प्रकम्प बन जाती है। कोई ताकत हमें हिला नहीं पाती।



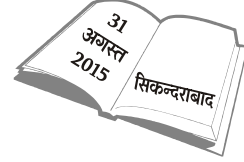


उद्देश्य तप नहीं समाधि हो



प्रश्न उठा कि तपस्या में क्रोध क्यों आता है? यह विषय थोड़े विस्तार की अपेक्षा रखता है, क्योंकि यह प्रश्न अनेक व्यक्तियों में उभरता है और अनेक लोग तप में क्रोध के शिकार बने हैं। अतः इस संदर्भ में सोचना यह चाहिए कि तपस्या का उद्देश्य क्या है? तप करने वाला किसलिए कर रहा है? 'करना है', 'लोग करते हैं', यदि इसलिए करता है तो यह कोई हेतु नहीं हुआ। यदि इसी दृष्टि से तप हो रहा है तो वहाँ गुस्सा आ सकता है, आने का अवकाश है। क्योंकि वह जो तप कर रहा होता है, वह लोगों की देखा-देखी कर रहा है अथवा किसी ने प्रेरणा दे दी इसलिए कर रहा है। अतः स्पष्ट है कि वह तप के माहात्म्य को बिना समझे तप रहा है। तप का उद्देश्य तप करने वाले के मस्तिष्क में स्पष्ट रहना चाहिए कि वह जो तप कर रहा है, वह एकमात्र कर्मों की निर्जरा के लिए, आत्म-समाधि के लिए कर रहा है। इस उद्देश्य से जो तप कर रहा होता है, उसका लक्ष्य आत्म-समाधि होता है। वस्तुतः यही लक्ष्य रहना चाहिए। तप-अनशन करने पर यदि समाधि भंग हो रही हो, क्रोध आ रहा हो तो वह तप उद्देश्य की पूर्ति करने वाला नहीं बन रहा है। जब वह उद्देश्य को साधने वाला हो ही नहीं रहा है तो वैसा तप करना ही क्यों? बिना अनशन किए यदि गुस्सा नहीं आ रहा है, समाधि भाव बना रहता है तो अनशन क्यों किया जाए? क्यों आत्म-समाधि को भंग किया जाए? तपस्या वही सार्थक होती है, जिसमें आत्म-समाधि बढ़ती रहती हो। यहां यह बात ध्यान में ले लेनी चाहिए कि हमारा लक्ष्य तप का नहीं है, आत्म-समाधि का है। वह जिससे प्राप्त हो, वही साधन अपनाना चाहिए। तप के माहात्म्य को समझ कर उसे हृदयंगम करते हुए तप-अनशन आदि किया जाता है तो बहुत संभावना है कि उस तप में क्रोध नहीं आएगा। जैसे अल्प सत्व वाले रोगी के लिए कुछ बलदायी औषधियां भी अनुपयुक्त होती हैं, वैसे ही अल्प सत्व वाले व्यक्ति के लिए तप रूपी औषधी अनुपयुक्त होती है। अनशन से पैदा होने वाली ऊर्जा को यदि सह सके, उसका गोपन कर सके तभी तप की उपयोगिता है। अन्यथा वह तप क्रोधादि के माध्यम से आत्मिक शक्तियों का क्षरण-रेचन करने वाला बन जाता है, जो कि उचित नहीं है। अतः तप करने वाले को तप करने का उद्देश्य सम्मुख रखना चाहिए।

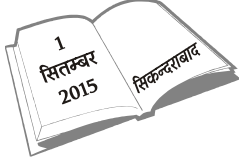




श्रुताभ्यास से जो गुण प्रकट होते हैं, उनमें तप भी एक है। तप का अर्थ है – तपना। जैसे स्वर्ण को तपाकर उसका मैल (खोट) दूर किया जाता है, मक्खन को तपाकर उसके भीतर रही छाछ को जलाया जाता है, वैसे ही शरीर को तपाकर आत्मा के भीतर बने क्रोध, मान, माया, लोभ, आसक्ति, स्पृहा, राग, द्वेष, ईर्ष्यादि दुर्गुणों को जलाना तप है। तप से आत्म-स्वरूप में निखार आना चाहिए, उसमें चमक पैदा होनी चाहिए। स्वर्ण तप कर कुंदन बन जाता है, वैसे ही तप से तपी आत्मा वीतराग बने, निर्मोही बने, अकषायी बने, अनासक्त बने, निस्पृह बने। साधक यदि पूर्ण वीतरागता आदि को तत्काल प्राप्त न हो सके तो भी वह उसी ओर बढ़े। उसका प्रवाह विपथगामी नहीं होना चाहिए। ऐसा न हो कि तपाना था शरीर को और तपने लगे आत्मा। नष्ट करने थे काम, क्रोधादि दुर्गुण, किन्तु वे नष्ट होने के बजाए और बढ़ने लगे। यदि वे बढ़ने लगे तो समझना चाहिए कि तप सही दिशा में नहीं जा रहा है। ग्लूकोज नस के माध्यम से शरीर में पहुंचाया जाता है, किन्तु सुई यदि नस से बाहर (आऊट) हो जाए तो वह ग्लूकोज शरीर को लाभ पहुंचाने के बजाए हानिकर हो जाता है। ग्लूकोज की तरह तप भी विपथगामी होकर हानिकर नहीं बने, यह सावधानी सतत् रखी जानी चाहिए। तप से मेरेपन का भाव कम होना चाहिए। शरीर पर रहा हुआ ममत्व भी क्षीण होना चाहिए, तभी तप की सार्थकता है, अन्यथा वह केवल काय-क्लेश बनकर रह जाएगा। एक प्रकार से अज्ञान तप की श्रेणी में आ जाएगा।

ज्ञानी पुरुष तप करते हुए कर्मों का क्षय करते हैं। उन्हें नष्ट करते हैं। वहीं अज्ञानी जीव अज्ञान को बढ़ाने वाले कर्मों का उपार्जन करने लगता है। सम्यक श्रुताभ्यासपूर्वक जो तप होगा, वह आत्म शांति, आत्म समाधि देने वाला होगा। इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती। अतः तप आत्मशक्ति के रूप में उभरना चाहिए। जैसे ग्लूकोज शरीर का पोषक होता है, वैसे ही तप आत्मा का पोषक होना चाहिए। वह शरीर का भले ही शोषक हो, पर आत्मा का पोषक सुनिश्चित हो।



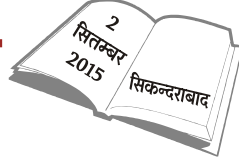


निर्जरा : कर्मों का आत्मा से खिरना

78

श्रुताभ्यास से प्रकट होने वाले गुणों में सातवां गुण निर्जरा बताया गया है। निर्जरा का अर्थ है-खिरना। आत्मा के साथ जो कर्म लगे हुए हैं, उनका देश से खिरना, निर्जरा है। जैसे पेड़ पर पके फल खिरने लगते हैं, वैसे ही कर्म भी जब पक जाते हैं, उनका समय पूरा हो जाता है, तब वे आत्मा से खिर जाते हैं। अलग हो जाते हैं। प्रश्न होगा, यह प्रक्रिया तो स्वाभाविक है कि कर्म पकेंगे तो खिरेंगे ही, इसमें श्रुताभ्यास का क्या सम्बन्ध है? कुछ फल अपनी गति से, समय से पकते हैं, जबकि कुछेक फलों को पराल, धुएं आदि के योग से जल्दी भी पका लिया जाता है। उसी प्रकार स्वाध्याय-श्रुताभ्यास से कर्मों को समय से पूर्व पका लिया जाता है। यानी जो देर से पककर खिरते, उनको जल्दी पकाकर खिरा दिया जाता है। जैसे तेज हवा के संयोग से काफी फल खिर जाते हैं, वैसे ही शुद्ध-अध्यवसाय रूपी हवा से कर्मों के स्कन्ध आत्मा से खिर जाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि उसकी प्रक्रिया क्या है? श्रुताभ्यास से हम स्वयं उस प्रक्रिया से अवगत हो सकते हैं। अनुप्रेक्षा को कर्म निर्जरा में सशक्त साधन माना गया है। इसी प्रकार मध्यस्थ भाव को भी निर्जरा का महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। श्रुताभ्यास से अनुप्रेक्षा, चिन्तन होना स्वाभाविक है। श्रुताभ्यास के अभाव में भी चिन्तन तो चलता है, किन्तु उसमें उतनी पवित्रता नहीं आ पाती, जितनी की अनुप्रेक्षा से पवित्रता आ पाती है। श्रुताभ्यास से मध्यस्थ की भी अवाप्ति होती है। श्रुताभ्यास में रत कषाय-राग-द्वेष से बचने का लक्ष्य रखता है। जहां राग-द्वेष की परिणति देखता है, वहां वह किसी का पक्ष नहीं लेता। तटस्थ बना रहता है। जिससे उसकी कर्म निर्जरा होती है। अनुप्रेक्षा से भाव अत्यन्त विशुद्ध हो जाया करते हैं। अतः वे कर्म निर्जरा में सहायक होते हैं। निर्जरा का लक्ष्य भी श्रुताभ्यास से बन पाता है। उसके बिना अकाम निर्जरा तो होती रहती है, किन्तु सकाम निर्जरा आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से ही संभव है। आत्म-शुद्धि का लक्ष्य श्रुताभ्यास के बिना सहज में नहीं बन पाता है। अतः श्रुताभ्यास के प्रति तत्पर रहना चाहिए।

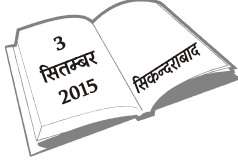




परदेशिकत्व श्रुताभ्यास का आठवां और अंतिम गुण बताया गया है। इससे एक महत्वपूर्ण संकेत यह मिलता है कि दूसरों को उपदेश कब दिया जा सकता है या कब देना चाहिए। नीति में कहा गया है- 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे।' दूसरों को उपदेश देने के लिए कई लोग तैयार रहते हैं। किन्तु पर-उपदेश तब दिया जाना चाहिए जब स्वयं को पूर्व के सात गुणों से भावित कर लिया जाए। उपदेश को आज के युग में ही नहीं रामचरितमानस के रचयिता श्री तुलसीदास जी के समय में भी बहुत आसान माना जाता रहा है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट होता है। यदि आगम की दृष्टि से विचार करें तो उपदेश बहुत ही महत्व रखता है। उपदेश की एक भी बात यदि विपरीत हुई और उसको किसी ने आदर्श बना लिया तो उसे विपथगामी होने से बचा पाना कठिन है। राजनेताओं के भाषण और धर्म नेताओं के उपदेश में बहुत अन्तर होता है। राजनेताओं के भाषण तात्कालिक स्थितियों पर प्रायः निर्भर होते हैं।

इतना ही नहीं उनका लक्ष्य अपनी पार्टी को उत्तम साबित करने का भी होता है। धर्मोपदेश के उपदेश में तात्कालिक समस्याएं ही प्रधान नहीं हुआ करती, बल्कि उनका उद्देश्य शाश्वत सिद्धान्तों को अमल में लाने पर हुआ करते हैं। वे चाहते हैं, व्यक्ति, समाज, ईमान पर चले। वह सत्य-निष्ठा के आदर्श को नकारे नहीं। सत्य-निष्ठा जीवन व्यवहार में भी परिलक्षित हो। वह केवल अग्राह्य आदर्श का रूप बनकर न रह जाए। नैतिक पृष्ठभूमि ठोस हो। नैतिकता के धरातल पर ही धार्मिकता के खिले फूल सुगन्ध दे सकते हैं। उसके अभाव में फूल खिलते हुए तो नजर आ सकते हैं, किन्तु उनमें सुगन्ध नहीं आ सकती। अतः धर्मोपदेश को अपना जीवन पहले उपदेश के तुल्य बनाना चाहिए। उसका जीवन मौन रूप से भी उपदेश देने वाला बन जाना चाहिए। वह श्रुताभ्यास से ही संभव है, अन्यथा उसका जीवन व्यवहार और उसका उपदेश समानता नहीं रख पाएंगे। वैसी स्थिति में कहीं ऐसा न हो जाए कि आप डुब्यों पाण्डियों, ले डुब्यों जजमान।





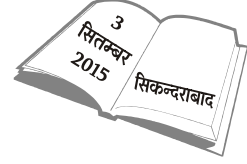
मानसिक क्रिया आकृति न बनें



क्रिया के तीन प्रकार हैं – मानसिक, वाचिक और कायिक। इन तीनों में मन से होनी वाली क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है। उसे पकड़ पाना बड़ा कठिन कार्य है, किन्तु उसमें कुछ क्रियाएं ऐसी भी होती हैं जिन्हें पकड़ा अर्थात् जाना जा सकता है। जो क्रियाएं आकृतिपूर्वक होती हैं, यानी जिन क्रियाओं को करने के साथ उन क्रियाओं को कैसे सम्पन्न करना उनका नक्शा, उनकी आकृति मन में तैयार होती है, उन क्रियाओं को जाना जा सकता है। मन की अनेक क्रियाएं आकृतिपूर्वक होती हैं तो कुछेक क्रियाएं आकृति रहित भी होती रहती हैं। जो क्रियाएं आकृतिपूर्वक होती हैं, उनके संस्कार घने रूप से आत्मा के खजाने में, स्मृति कोष में अंकित हो जाते हैं। वे संस्कार आकृतियां कई बार कई जन्मों तक पीछा नहीं छोड़ती। जीव परेशान होता रहता है, किन्तु उसे अपनी परेशानी का कारण ज्ञात नहीं हो पाता कि वह परेशान हो क्यों रहा है। उसकी परेशानी का कारण वे ही आकृतियां हैं, जिन्हें उसने कभी मन पर अंकित की थी। बाहर में जो आकृतियां बनती हैं, उनका नेगेटिव उसके ही भीतर में रहा हुआ होता है। नेगेटिव पूरा स्पष्ट नहीं होता, किन्तु उसके बावजूद उससे अनुमान लगाया जा सकता है। राजमती भगवान अरष्टि नेमि के प्रति क्यों आकृष्ट हुई, भगवान महावीर के प्रति इन्द्रभूति गौतम क्यों आकर्षित हुए? इनके उत्तर में पाएंगे पूर्वकृत मन में अंकित आकृतियों की वजह से। प्रत्येक बुद्ध दीक्षित होते हैं तो उन्हें पूर्व अधीन श्रुत उपस्थित हो जाता है, उसका कारण भी वही लग रहा है। यानी पूर्व के जो संस्कार अंकित हुए वे निमित्त होते हैं। उन्हें प्रयत्न विशेष से ही जाना जा सकता है। उसके लिए मन रूपी चादर का बारीकी से प्रतिलेखन करना जरूरी है अन्यथा उन क्रियाओं को जान पाना आसान नहीं होगा। उन क्रियाओं को आलोचना के माध्यम से जाना जा सकता है और निंदा एवं गर्हा के द्वारा उन्हें पूर्ण रूप से साफ किया जा सकता है। परिणामस्वरूप उन से मुक्त हुआ जा सकता है।

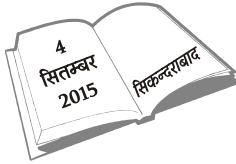


आ-मर्यादया लोचना-आलोचना



आलोचना किसे कहा जाए ? लोच धातु एवं आ उपसर्ग पूर्वक आलोचना शब्द की निष्पत्ति होती है। लोच धातु का प्रयोग देखने अर्थ में होता है। आ उपसर्ग समन्तात् अर्थ में अथवा मर्यादादि अर्थों में प्रयुक्त होता है। इससे आलोचना का यह अर्थ फलित होता है कि समग्रता से देखना अथवा मर्यादा पूर्वक देखना। जैसे खुफिया विभाग में काम करने वाले किसी भी केस में उसकी तह तक जाने का प्रयत्न करते हैं, उसकी तह तक पहुंचते हैं, तथ्य को ढूंढने में सफल होते हैं, उसी प्रकार जब व्यक्ति की दृष्टि पैनी, तीक्ष्ण बनती है और वह अपने भीतर गहरे तक पहुंचकर कहां-कहां अपराध के संस्कार जमे हुए हैं, उनको देखने में समर्थ होती है, उसे आलोचना कहा जाता है। दूसरे शब्दों में 'मर्यादापूर्वक' यानी जो उसकी विधि है, उस प्रकार से देखता है। एक 'के' बाद एक को क्रमशः देखना, यह विधि है। ऐसा नहीं कि एक बार कहीं देखा और दूसरी बार कहीं और। ऐसा देखना विधि नहीं है। विधि है यथाक्रम जिस क्रम से अपराधमय आकृतियों का निर्माण हुआ है, उन्हें उसी क्रम से देखा जाए। इस प्रकार देखने से कार्य आसानी से एवं शीघ्र सम्पन्न होता है। अन्यथा समय ज्यादा भी लग जाता है और कुछ संस्कार-आकृतियां तो पकड़ में आती हैं, कुछ आ ही नहीं पाती। वैसी स्थिति में मन की चादर पूर्ण रूप से परिष्कृत नहीं हो पाएगी। उस पर कहीं-कहीं वे आकृतियां बनी रह जाएंगी। भले ही वे एकदम स्पष्ट न हों, धुंधली ही हों, पर वे बनी रह जाएंगी। अतः आलोचना का अर्थ होगा समग्रता से विधिपूर्वक अपने द्वारा किए गए कृत्यों को देखना। इस प्रकार देखने से जिन आकृतियों को व्यक्ति उचित नहीं समझेगा उन्हें निंदा व गर्हा के द्वारा डिलीट, साफ करने को उद्यत होगा, ताकि वे उसके मन की रील पर से दूर हो जाएं। मन की रील पूर्ण रूप से साफ हो जाए। आत्म-शुद्धि की त्रिपुटी में पहला घटक आलोचना है। उसका सम्यक प्रकार से होना जरूरी है। तभी आगे के दो घटक सही रूप से काम कर पाएंगे।





मानसिक क्रिया के भेद

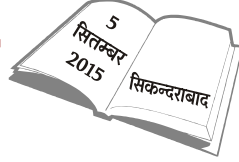
82

मानसिक क्रिया के दो भेद हैं। पहला प्रशस्त और दूसरा अप्रशस्त। अप्रशस्त के पुनः तीन भेद हो सकते हैं यथा- आत्मघात अप्रशस्त क्रिया, पर घात अप्रशस्त क्रिया एवं तदुभय घात अप्रशस्त क्रिया। आत्मघात का तात्पर्य आत्महत्या नहीं है। अपने स्वयं के लिए जो प्रधानतया आघात रूप हो यथा किसी भी कारण से आत्म का, स्वयं का संक्लेशित होना, क्रोधादि से स्वयं झुलसना। यह आत्मघात रूप अप्रशस्त क्रिया है। दूसरे को कष्ट पहुंचाने के लिए, अन्य पशु-पक्षी-मनुष्यादि को परितापित-परिताडित करना, परिताप देने की विचारणापूर्वक उसकी योजना तैयार करना, यह परघात रूप मन की अप्रशस्त क्रिया है।

जैसे इन्दिरा गांधी, राजीव गांधी आदि को समाप्त करने हेतु योजना बनाई गई एवं उस पर अमल भी किया गया। जिसमें स्वयं और अन्य दोनों का आघात होता है उसे तदुभय-घात रूप अप्रशस्त क्रिया कहा जाता है। नाग श्री ब्राह्मणी ने धर्म रुचि अणगार को जो आहार बहराया, वह एक प्रकार से परघात अप्रशस्त क्रिया का ही रूप है। इस प्रकार की प्रवृत्ति से जीव अनादि-अनन्त संसार में परिभ्रमण करने वाला बन जाता है। गौशालक द्वारा भगवान महावीर एवं अन्य मुनियों पर तेजो लेश्या छोड़ी, वह भी परघात रूप अप्रशस्त क्रिया ही थी। क्रोधादि भी अप्रशस्त मानसिक क्रिया रूप ही हैं। इसी प्रकार ईर्ष्या-द्वेषादि का संग्रह भी अप्रशस्त क्रिया के अन्तर्गत ही है। इसका परिणाम दुःख रूप होता है।

प्रशस्त मानसिक क्रिया शुभ रूप होती है। उससे आत्मशांति, समाधि प्राप्त होती है व अन्य लोगों में भी उसकी यश-कीर्ति होती है। सुपात्रदान, अनुकम्पा, दानादि के परिणाम-भावनाएं प्रशस्त मानसिक क्रियाएं हैं। उसे भी तीन रूपों में विभक्त किया जा सकता है। आत्म अहनन, पर अहनन एवं बहुभस अहनन रूप। आत्म-स्वयं का, पर का एवं स्व-पर का शुभ चिन्तन-शुभ मनन प्रशस्त मानसिक क्रियाएं हैं। 'सुखी रहे सब जीव जगत के, कोई कभी न घबराए, इस प्रकार के मानसिक विचार प्रशस्त रूप हैं। इससे जीव पुण्य-लाभ कमाता है।



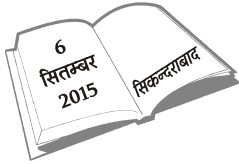


आज का दिन शिक्षक दिवस भी है एवं जन्माष्टमी भी। जन्माष्टमी भाद्रपद माह की दृष्टि से है एवं शिक्षक दिवस सितम्बर माह की अपेक्षा से। पांच सितम्बर भारत के द्वितीय राष्ट्रपति डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन का जन्मदिन है। वे शिक्षक रहे थे, अतः उनकी जन्मतिथि शिक्षक दिवस के तौर पर मनाई जाती है।

शिक्षक – जो शिक्षा पदों का कथन करता है, यानी जो शिक्षा प्रदाता हो। शिक्षा का अर्थ अनुशासन भी है। जो व्यक्ति को शासित करे, वह शिक्षा। जो धर्म, संघ, समाज, राष्ट्रादि के नियमों के अनुरूप शासित करे, वह अनुशासन। कहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र के ढांचे में कैसे जीए, इसका जो पाठ पढ़ाया जाता है, पढ़ा जाता है, वह अनुशासन है।

माता-पिता सन्तान को जन्म देते हैं। शिक्षक उसके जीवन को अनुशासित करते हैं और धर्म गुरु उसमें प्राण प्रतिष्ठा करते हैं अर्थात् धर्ममय जीवन व्यवहार का बोध कराते हैं। इस त्रिपथगा में जो नहा लेता है वह मनुष्य जीवन को सार्थक बना पाता है। खदान में से पत्थर को बाहर निकाल लेना ही पर्याप्त नहीं होता। उसे टांच कर प्रतिमा बनाना व उसमें प्राण प्रतिष्ठा करना जैसे व्यावहारिक क्षेत्र में माना जाता है वैसे ही सन्तान का जन्म, अनुशासन व धर्ममय जीवन व्यवहार इन तीनों के माध्यम से व्यक्तित्व का सर्वांगीण निर्माण हो पाता है। श्री कृष्ण वासुदेव के जीवन को भी यदि उक्त परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो हम पाएंगे कि उन्होंने त्रिपथगा में नहाकर स्वयं को तो कृतार्थ किया ही, साथ ही मानव जाति को कर्तव्य-कर्म के प्रति उत्प्रेरित भी किया। उन्होंने त्रिपथगा में नहाकर स्वयं को सशक्त, ऊर्जावान बनाया। उनका जीवन सदाबहार था। कष्टों में, विपत्तियों में वे ठिठके नहीं। उनको कैसे लांघना, उनसे कैसे पार पाना, उस लक्ष्य से वे चले। उन्होंने तदनु रूप जीकर यह बता दिया कि तुम कार्य को असंभव मानकर मत बैठो। किसी भी कार्य को असंभव मानना पहली विफलता है अर्थात् उसे शुरूआत में ही विफलता द्वारा माल्यार्पण किया जा चुका है। उन्होंने लोगों को यह प्रेरणा दी कि तुम्हारा जन्म विफलता के लिए नहीं सफलता पाने के लिए हुआ है।





आत्मा को लघुभूत बनाएं

84

भगवान महावीर से जयन्ती बाई श्राविका ने प्रश्न किया था, भगवन! जीव भारी किससे होता है और हल्का किससे होता है? भगवान ने उत्तर दिया, अठारह पाप में प्रवृत्ति से जीव भारी बनता है एवं अठारह पाप से निवृत्त होने पर जीव हल्का होता है। यहां हल्का और भारी का तात्पर्य वजन से नहीं है। यहां जो कथन है उसका सम्बन्ध भाव से है।

लालटेन शीशे पर धुएं की परत जम गई। प्रायः पूरा ग्लास धुएं की परत जमने से कालिमा युक्त हो गया। तराजू से तौलने पर सादे ग्लास और धुएं से भरे ग्लास दोनों के वजन में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आ पाता, पर अन्तर तो है ही। वह अन्तर साफ नजर आता है। कालिमा युक्त शीशे के कारण भीतर रहे हुए प्रकाश से बाह्य वस्तुएं जिस रूप में प्रकाशित होनी चाहिए थी, उस रूप में प्रकाशित नहीं हो पाती, क्योंकि शीशा पर कालिमा छाई हुई है। मोह और अज्ञान भी यही करता है कि जो वस्तु जैसी है, वह उसके स्वरूप को उसी रूप में जानने-देखने नहीं देता। जीव की ज्ञान शक्ति पर घना आवरण आ जाना, यही जीव का भारी होना है। इसके विपरीत मोह-अज्ञान का कम होना हल्कापन है। वह कम होता है, अठारह पाप की निवृत्ति से।

प्राणातिपातादि अठारह पापों में से कुछेक पाप गृहस्थ अवस्था में रहने वाले को करने पड़ जाते हैं, किन्तु बहुत सारे पापों से यदि वह बचना चाहे तो बचाव भी कर सकता है। जैसे झूठ बोलना कोई जरूरी नहीं है। चोरी करना, क्रोधादि करना जीवन जीने के लिए जरूरी नहीं है।

यदि उन सारे पापों को, जो जीवन जीने के लिए जरूरी न हो, नहीं करे तो वह आत्मा को बहुत हल्का बना सकता है। अधिकांश पापों में प्रवृत्ति अनाभोग (जानकारी न होने) से हो जाया करती है। कुछ पाप आदतन होते हैं। करना जरूरी नहीं होता पर आदत से वह वैसा कर गुजरता है। ऐसे पापों से बचाव जागरूक रहकर किया जा सकता है।





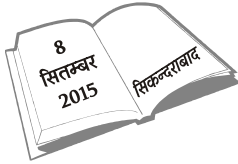
अमृत दुनिया में कहां है, इसका पता शायद किसी को नहीं है। ग्रन्थ-पुराणादि ने उसे देवों के पास होना स्वीकार किया है। प्रश्न होता है कि क्या देवों ने उसका पान किया है? यदि हां तो क्या वे सदाजीवी हैं? सिद्धान्त के अनुसार उनका भी एक दिन मरण होता है। उसे च्यवन या उद्धर्तन कहा जाता है, पर है तो वह मरण ही। वे देवत्व को छोड़ मृत्यु लोक में आ जाते हैं। सदा-सदा के लिए कोई भी देहधारी नहीं रह सकता। शरीर औदारिक हो या वैक्रिय, वह एक अवधि तक ही रहता है। उसके बाद वह जीर्ण-शीर्ण हो जाता है।

वैक्रिय शरीर औदारिक की तरह तो जीर्ण-शीर्ण नहीं होता पर पूर्व की अपेक्षा उसकी ज्योत्स्ना, दिव्यता म्लान-मंद अवश्य हो जाती है। इससे फलित होता है कि देवों ने अमृत का पान नहीं किया है। तब प्रश्न होता है कि यदि वे अमृत का पान नहीं करते हैं, तो फिर उसका होने का अर्थ क्या? वस्तुतः उसका होना कोई महत्त्व नहीं रखता।

इस संदर्भ में श्रीमदानन्दघन जी के पद, 'गगन मण्डल के अर्धाबीच कुआं, जहां है अमी का वासा' इसी तरह यह भी प्रसिद्ध भजन है कि 'अब हम अमर भये ना मरेंगे।' या कारण मिथ्यात्व दियो तज, क्यों कर देह धरेंगे। अब हम अमर भये ना मरेंगे ?

विचार करते हैं तो ऐसा जान पड़ता है कि आत्मा ही आत्मानन्द अमृत है। सत्य ही अमृत है। जो सदा बना रहता है। जो स्वयं को सत्यमय बना लेता है वह अमर होता है। उसे देह धारण नहीं करनी पड़ती। दूसरे शब्दों में अहिंसा-सत्यादि पंच महाव्रत ही वह अमृत है जिसका सम्यक प्रकार से पान कर लें तो आत्मा जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाए। सदा-सदा के लिए अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाए। अब तक उसने जितने भी रूप बनाए हैं, वे सब मिटते रहे हैं, मिट रहे हैं। वे स्थायी न रह पाए हैं न रह पाएंगे, लेकिन अपने निज रूप में जब वह अवस्थित होगी, वह सदा विद्यमान रहने वाला है। कभी न जीर्ण होने वाला है और न ही विनष्ट होने वाला है।





सब अंगों को मिले सुरक्षा

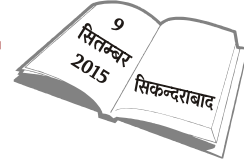
86

मनुष्य तन के पांच, आठ और बारह अंग माने जाते हैं। पांच अंग में दो हाथ, दो पैर एवं एक मस्तक। इनमें पेट, छाती और पीठ मिलाने से आठ अंग बन जाते हैं। इन्हीं में दो ऊरू और दो भुजाएं मिलाने पर अंगों की संख्या बारह हो जाती है। ये पूरे अंग जिसे प्राप्त होते हैं, वह पूर्णांगी माना जाता है। इनमें यदि कुछ अंग कम हो तो वह हीनांगी माना जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो उक्त अंग पूर्ण होने पर शरीर सर्वांगीण होता है। जैसे मानव-शरीर के अंग बताए गए हैं, वैसे ही धर्म के भी चार अंग हैं। उन चारों की पूर्ति होने पर धर्म की पूर्णता मानी जाती है।

धर्म के चार अंग हैं - मनुष्यत्व, धर्म श्रवण, श्रद्धा एवं उस पर पुरुषार्थ, यानी उसे स्वीकार करना। धर्म के चार अंगों की तरह साधुता के भी चार अंग हैं, यथा - अप्रमत्त होना, अकषायी होना, सर्वज्ञ एवं अक्रिम बनना। ये चार अंग पूर्ण होने पर ही साधुता की समग्रता है। साधु बनना और साधुता में जीना दोनों भिन्न-भिन्न हैं। साधुता का बाना पहनने के बाद भी यदि साधुता में जीना संभव नहीं हो पाया तो वह बाना उसे साधुता के उत्कर्ष तक नहीं पहुंचा पाएगा। यद्यपि साधुता सप्रमाद व सकषायी अवस्था में भी होती है, पर उसमें निखार प्रमाद व कषाय छोड़ने से ही आ पाती है। साधुता की समग्रता अक्रिय-अयोग अवस्था है। जो मोक्ष के कुछ क्षण पूर्व ही प्राप्त हो पाती है। जैसे शरीर के पूर्ण होने पर शरीर शोभायमान लगता है, वैसे ही संयम-साधुता अपने सम्पूर्ण अंगों से शोभायमान होती है।

शरीर सम्पूर्ण अंगोपांगों से युक्त शोभा देता है। इसलिए उसके अंगोपांगों की देख-रेख की जाती है। धर्म के अंगोपांगों की सुरक्षा के लिए व्यक्ति को उसी प्रकार से तत्पर रहना चाहिए। धर्म के अंगोपांगों के प्रति लापरवाह बनने वाला धर्म को सही ढंग से जी नहीं सकता। धर्म अंगों को सुरक्षित तब रखा जा सकता है, जब मानवता का धरातल मजबूत बने एवं मन श्रोता भाव के लिए तैयार हो। साथ ही सुने हुए तत्त्व पर आस्था और अच्छाई को स्वीकार करने की तत्परता बने। अतः धर्म एवं साधुता के सर्व अंगों की सुरक्षा पर हमारी दृष्टि केन्द्रित हो।



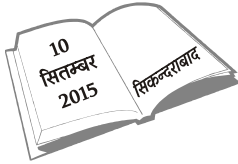


पास-पास के दो खेतों में से एक में फसल अच्छी हो जाती है, जबकि अन्य खेत में वैसी फसल नहीं हो पाती। ऐसा क्यों हुआ? इस पर यदि समीक्षा की जाए तो समीक्षा के बिन्दु होंगे - बीज, भूमि, निराई, खाद, पानी, देख-रेख इत्यादि। ये यदि समान रूप के न हों तो फसल में अन्तर आ जाता है। किसी खेत की भूमि ठीक हो सकती है, पर बीज वैसा ठीक न हो। किसी में खाद-पानी आदि का अन्तर आ सकता है। इनमें मुख्य है - बीज व भूमि। इसी प्रकार सुपात्र दान का फल भी एक समान नहीं होता। दाता, पात्र व देय तीनों की विशुद्धि के साथ-साथ अध्यवसाय में कितनी विशुद्धि है, वह मुख्य होती है। अध्यवसाय की विशुद्धि से दान का महात्म्य शत-गुणित ही नहीं संख्येय-असंख्येय गुणित हो सकता है।

बिना दान दिए ही जीर्ण सेठ मात्र भावना के बल पर जितनी आत्म-शुद्धि कर पाया, दान देने पर भी पूर्ण सेठ उतनी आत्म शुद्धि नहीं कर पाया। अतः दिए जाने वाले पदार्थ साधुता को शरण करने वाले न हों, भावना की विशुद्धि हो व देने की प्रबल इच्छा हो तो थोड़ा भी दान महा फलदायी होता है। बीज एक होता है। फसल आने पर वह कई गुणा हो जाता है, वैसे ही जो दिया जाता है उसका कई गुणा लाभ सुपात्र दान से प्राप्त होता है। भावना यदि टालने की है, देय पदार्थ यदि अशुद्ध है तो वैसी स्थिति में पुण्य-फल प्राप्त होने की बजाए, वह दान पाप-कर्म उपार्जक भी हो सकता है।

साधुओं के लिए बनाया हुआ - आधाकर्मी, गृहस्थ व साधु के लिए एक साथ बनाया हुआ मिश्र जात - साधु को गांव में आया जानकर बनते भोजन की मात्रा को बढ़ा देना, अध्यव व पूरक साधु के लिए खरीदा हुआ-क्रीत इत्यादि दोषों से दूषित आहारादि साधु के लिए अग्राह्य होता है। गृहस्थ द्वारा देय भिक्षा उद्गम के 16+10, 26 प्रकार के दोषों से दूषित हो सकती है। इनसे दान के फल पर भी असर होता है। दाता की भावना यह होनी चाहिए कि आहारादि साधुओं के निर्मल चारित्र पालन में सहयोगी बने।





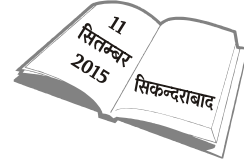
परिवर्तन होगा बशर्ते...

88

आम थोड़ा-सा सड़ता है, पान थोड़ा-सा सड़ता है, कुछ ही समय में आम व पान पूरा सड़ जाएगा। दूध में जावण थोड़ा-सा ही डाला जाता है, वह थोड़ा-सा जावण पूरे दूध को दही में बदल देता है। भगवान की वाणी का एक सूत्र भी जीवन में रम जाए तो पूरा जीवन आगममय, ज्ञानमय बन जाएगा। इसके विपरीत यदि भगवान के एक वचन को भी श्रद्धे नहीं तो सारा जीवन अज्ञानान्धकार वाला बन जाता है। जीवन में एक वचन तब परिवर्तन लाता है, जब अन्य सारे सिद्धान्तों पर भी विश्वास हो। यदि एक वचन को स्वीकारे, अन्य को नहीं श्रद्धे, तो वह एक वचन जीवन को ज्ञानमय नहीं बना सकता। दही जमाने वाला दूध में जावण डालकर हिलाता रहे, संशयशील बना रहे, उसे हिला-हिला कर देखता रहे कि दही जमा या नहीं तो दही नहीं जम पाएगा। दूध में जावण डालने के बाद उसे 4-6 घंटे ज्यों का त्यों ही रहने दिया जाए तो वह दही के रूप में जमा हुआ मिलेगा। संशय शीलता में अधैर्य बना रहता है। जिससे जावण किंवा एक बार का जो सम्यक परिणमन होना चाहिए, वह नहीं हो पाता। परिणामस्वरूप न तो दूध का दही ही जम सकता है और न ही जीवन में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन ही आ सकता है। पर हाँ, यदि श्रद्धा-आस्था सुदृढ़ हो तो भगवान का एक वचन भी जीवन को रूपान्तरित करने में पूर्ण रूप से कामयाब हो सकेगा। आगम-अनुशीलन से यह भली-भाँति स्पष्ट होता है कि मेघकुमार आदि कई राजकुमारों का एवं अर्जुन माली आदि का जीवन चमत्कारिक रूप से परिवर्तित हुआ। भोग-भोगने के सारे संसाधन होते हुए भी उन्होंने उन सारे मनोज्ञ-कमनीय काम-भोगों को ऐसी लात मारी कि वे काम-भोग पुनः उनके सामने आ खड़े होने की हिम्मत नहीं कर सके। अतः स्पष्ट है कि भगवान की वाणी भी तब जीवन को रूपान्तरित कर पाएगी, जब उसके प्रति समग्र भाव से आस्था हो। अन्यथा वह वाणी व्यक्ति के लिए उल्लेखनीय लाभकारी नहीं हो सकती। छोटी साधु वन्दना में कहा गया है - एक वचन श्री सद्गुरु करो, जो धारे दिल मांय रे प्राणी नरक निगोद में में नहीं जावे, इम कहे जिन राय रे प्राणी।



करो कुछ आत्म हित चिन्तन



पर्युषण पर्वाराधन के लिए आने वाला मानस बनाकर आता है कि मुझे धर्म आराधना करनी है। यह बात अलग है कि कई लोग परम्परानुगत होते हैं। वे जो करते आए हैं, वैसा ही करते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन का सर्वांगीण विकास नहीं कर सकते। वे जो करते आ रहे हैं, कर रहे हैं, उसी से सन्तुष्ट हो जाते हैं। उससे आगे बढ़कर भी मुझे कुछ करना चाहिए, ऐसी उनकी सोच ही नहीं बन पाती। व्यापार में भी जो आदमी बैठा व्यापार करता है, वह उससे होने वाली आमदनी में ही संतुष्ट रहता है। उसे यदि अन्य बड़े व्यापार के लिए कहा जाए तो वह कर नहीं पाएगा। वह उसकी रूपरेखा भी नहीं बना पाएगा। कई लोग व्यापारिक क्षेत्र में ऊंची उड़ान भरते हैं, किन्तु धार्मिक क्षेत्र में उनका मस्तिष्क उतना काम नहीं करता। उतना तो क्या उसके कुछेक प्रतिशत में भी वे सोच नहीं पाते। इसे कर्मों की विचित्रता कह सकते हैं, पर केवल कर्मों की विचित्रता ही नहीं है। वर्तमान के पुरुषार्थ की भी मंदता रहती है। वर्तमान कालिक पुरुषार्थ की मंदता के कारण वे उस क्षेत्र में आगे डग भर नहीं पाते। व्यापारिक क्षेत्र की गति के समक्ष उनकी गति धार्मिक-क्षेत्र में अत्यन्त शिथिल होती है। हमें यह सोचना चाहिए कि ये पर्व हमारे माध्यम हैं, इनके माध्यम से हमें सर्वज्ञता प्राप्त करनी है। सर्वज्ञता के लिए हमें जीवन की समग्रता पर भी विनिश्चय करना चाहिए। अन्यथा सर्वज्ञता की प्राप्ति संशय के घेरे में ही बनी रहेगी।

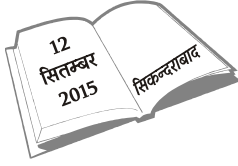
पर्युषण पर्व के प्रसंग से आत्म हित का चिन्तन अवश्य करना चाहिये। जैसा कि कविता में कहा गया है -

पर्युषण पर्व है बंदे, करो कुछ आत्म हित चिन्तन।

किया क्या आज तक तुमने, करो इसका गहन मंथन ॥

वस्तुतः विचारणा चाहिए - अब तक इतने बसन्त बीत चुके उनमें मैंने क्या किया ? आत्महित के लिए कितना समय लगाया।





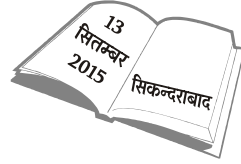
बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद



पर्दे के पीछे का दृश्य कुछ और होता है, पर्दे पर कुछ ओर। पर्दे पर आदमी स्वयं को जितनी साफगोई पेश करता है, वस्तुतः वह वैसा होता नहीं है। बहुत कम लोग होंगे, जिनका आन्तर-बाह्य जगत एक हो। जिनका आन्तरिक व बाह्य रूप एक हो जाता है वे तथा रूप कहे जाते हैं। यानी जैसा उनका बाह्य रूप है, वैसा ही उनका आन्तरिक जीवन भी है। ऐसे व्यक्ति ही सचमुच में धर्म की आराधना कर पाते हैं। अन्यथा कथनी कुछ होती है और करनी कुछ और ही होती है। कथनी-करनी का भेद उसके आन्तरिक व बाह्य भेद का परिचायक हो जाता है। जो आन्तर-बाह्य रूप एक नहीं कर पाते, उन्हें प्रायः द्वन्द्व में जीना होता है। वे द्वन्द्व के आदी भी हो जाते हैं। एक प्रकार से वह आदत, रूटिन ही बन जाती है। परिणामस्वरूप वे उसी को जीवन मान बैठते हैं। ऐसे व्यक्ति जीवन का सच्चा आनन्द कभी नहीं उठा सकते। जिसने फिटकरी को ही मिश्री मान लिया हो, वह मिश्री की खोज करेगा ही क्यों? जो शक्कर की चासनी को ही मधु मानकर चटखारे लेकर खा रहा हो, उसे क्या पता असली शहद होता कैसा है? वैसे ही जो द्वन्द्व को जीवन का आनन्द मान बैठे वह जीवन का सच्चा आनन्द कैसे उठा पाएगा। वह सर्व दोषरहित जीवन की परिभाषा समझ सके, यह कठिन है।

आज हमें कोई यथाख्यात चरित्र के समय प्राप्त होने वाले आनन्द के विषय में पूछे तो हम उसका क्या बखान कर पाएंगे? यही न, जो शास्त्रों में लिखा होगा। वह तो उधारा ही होगा। कषाय में जीने वाला अकषाय से होने वाले रस को कैसे जान पाएगा? निरन्तर आग पर तपता रहे, उस तवे से कोई पूछे कि तुम्हारा रूप क्या है, वह कहेगा स्पर्श करके देख लो? वस्तुतः उसने जब कभी ठण्डक का अनुभव किया ही नहीं तो वह क्या बता पाएगा। वह कह सकता है कि लोग ठण्डक की बात करते तो हैं पर मुझे नहीं पता ठण्डक क्या होती है? इसी प्रकार जो द्वन्द्व में जीने के अभ्यासी होते हैं वे अन्तर-बाह्य एक रूप को क्या जान पाएंगे?

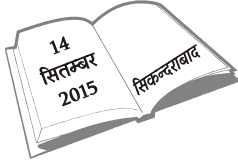




साधना की मूल भित्ति है, अहिंसा। साधना का मुख्य उद्देश्य है – आत्म समाधि, आत्म शांति पाना। यहां पाने का अर्थ है उसे उपलब्ध करना। जैसे दही को मथकर मक्खन निकाल लिया जाता है, वैसे ही साधना से जीवन को मथकर समाधि प्राप्त करना है। जीवन दही का रूप है। उसमें मक्खन रमा हुआ है। मक्खन निकालने के लिए दही को मथना होता है। साथ ही आवश्यकतानुसार ठण्डा या उष्ण पानी भी उसमें डाला जाता है। उसे डालने का उद्देश्य दही से मक्खन निकालना ही है। इसी प्रकार साधना में कभी तपस्या, तो कभी आहार लेना होता है। आहार में भी कभी रूक्ष पदार्थ तो कभी स्निग्ध पदार्थ ग्रहण किए जाते हैं। पदार्थ रूक्ष हों या स्निग्ध, उन्हें खाते हुए साधक का विचार यही होता है कि पदार्थ ग्रहण करना मेरा उद्देश्य नहीं है। तन को पुष्ट करना मेरा उद्देश्य नहीं है। मेरा उद्देश्य स्पष्ट है। मुझे अपने अन्तर में खोई हुई समाधि को प्राप्त करना है। वह जिस विधि से हो, वही मेरा प्राप्तव्य है। कई साधक नित्यभोजी भी होते हैं तो कई दीर्घ तपस्वी भी होते हैं। कुछ कभी तप करने तो कभी आहार लेने वाले भी होते हैं। तप या भोजन उद्देश्य नहीं है। वह तो रास्ता है, जिस पर चलकर मंजिल पाना है। मुख्य है मंजिल। साधक स्वयं को जैसे समाधिस्थ कर सके, वैसे उसे प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न होगा समाधि के लिए की जाने वाली साधना एकाकी होनी चाहिए या सामुदायिक। अकेले रहकर करनी चाहिए या समुदाय में रहते हुए। साधना कैसे भी की जा सकती है, किन्तु समुदाय में रहते हुए साधना करना ज्यादा ठीक है। उससे साधक समय-समय पर साधना को तोल भी सकता है कि वह स्वयं को कितना समाधिस्थ बना पाया है। समुदाय में रहते हुए भी उसकी दृष्टि स्वयं में ही रहनी चाहिए। अपनी बुद्धि का उपयोग स्वयं के लिए ही करना चाहिए। आत्मनिष्ठ साधक को समुदाय भी एकान्त ही महसूस होता है। चंचल-चित्त वाले के लिए एकान्त भी भीड़ बन जाती है। अतः आत्मनिष्ठ बनने का ही लक्ष्य रखना चाहिए। उससे समाधि को बहुत आसानी से उपलब्ध किया जा सकता है।





शक्ति केन्द्रों को जानें

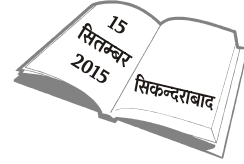


शरीर और चेतना को जोड़ने वाले प्राण हैं। प्राणों के वियोजन का अर्थ होता है, शरीर से चेतना का अलगाव। शरीर में रहते हुए शरीर से निरपेक्ष हो जाना बहुत गम्भीर विषय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि उस विषय तक पहुंचा नहीं जा सकता। प्रयत्न, प्रयास करने से सफलता मिलती है। देह में अनेक शक्ति केन्द्र हैं। उन शक्ति केन्द्रों व उनके रहस्यों को समझना होगा। जैसे किसी राष्ट्र के शक्ति केन्द्रों पर जो राष्ट्र आधिपत्य जमा लेता है, वह राष्ट्र उसके अधीन हो जाता है। उसके बाद उसी की आज्ञा और निर्देश उस राष्ट्र में लागू होते हैं। वैसे ही शरीर में रहे हुए शक्ति केन्द्रों को चेतना अपने अधिकार में ले लेगी तो उन पर एवं देह पर भी उसी के आज्ञा-निर्देश चलेंगे। शक्तिशाली क्षेत्र को जीत लेने पर दूसरे क्षेत्रों पर विजय स्वतः मिल जाती है।

शक्ति केन्द्रों को समझने के लिए श्रुतावगाहन आवश्यक है। श्रुतावगाहन से हम उन तक अवश्य पहुंच सकते हैं। उन शक्ति केन्द्रों के रास्ते यदि सीधे ही बता दिए गए होते तो अनाड़ी लोग उससे अपना ही अहित कर लेते। उदाहरण के तौर पर परमाणु शक्ति सम्पन्न देश क्या परमाणु ठिकानों को सार्वजनिक करते हैं? नहीं। वे गुप्त होते हैं। वे किसी आतंकी या अन्य किन्हीं ऐसे लोगों के हाथ नहीं लगे। यदि ऐसे ही लोगों के हाथ लग जाए तो उसके दुरुपयोग की प्रबल संभावना है। अतः उक्त ठिकाने गुप्त होते हैं।

विद्युत जैसे बिजली घरों से होती हुई गुजरती है, वैसे ही चेतना उन शक्ति केन्द्रों से होती हुई शरीर में प्रवाहित होती है। यदि शक्ति केन्द्रों पर ही उस चैतन्य प्रवाह को संयोजित कर दिया जाए तो शरीर भाव से चेतना को हटाया जा सकता है। शरीर में उसका जो प्रवाह होता है एक तरह से वह मोह के तारों के माध्यम से हो रहा है, ऐसा समझा जा सकता है। तब से मोह हटते ही चेतना का अद्भुत रूप उजागर हो जाता है। उस समय शरीर पर घटने वाली घटनाओं में चेतना हत-प्रहत नहीं होती। अतः प्राणों पर विजय पाने के लिए शक्ति केन्द्रों का व उनके रहस्यों का ज्ञान जरूरी है।

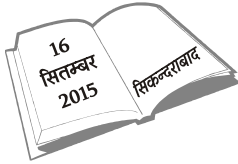




किसी भी समुदाय को दीर्घ जीवी होने के लिए मर्यादाओं में रहना आवश्यक हैं। जिन्होंने भी मर्यादाओं का उल्लंघन किया, उनकी पीढ़ियों के आज नामोनिशान भी नजर नहीं आते। जिन भी लोगों ने जब-जब भी मर्यादाओं को गौण करके सुरा-सुन्दरियों से नाता जोड़ा, उनके वंशों को तब-तब भारी कठिनाईयों से गुजरना पड़ा है। वर्तमान में भी देखा जा रहा है कि कई लोग पाप की कमाई के नशे में धुत्त रहते हैं। वे मर्यादाओं को ताक पर रखकर विवाह-शादी आदि प्रसंगों पर जिस प्रकार के कार्यक्रम करते हैं, उनकी बातें जब कानों पर पड़ती है तो सिर शर्मिंदगी से झुक जाते हैं कि क्या वस्तुतः ये कार्य हमारे जैनत्व के अनुरूप हैं? क्या भगवान महावीर का नाम हम इन्हीं कार्यों से ऊंचा कर पाएंगे? पर इन कार्यों को रोकना चाहने वाले भी क्या करें। क्योंकि समाज की व्यवस्थाएं शिथिल हुई हैं।

व्यक्ति निराशात्मक सोच वाले बनते गए कि हमें क्या करना है? सशक्त नेतृत्व का अभाव होता गया। उसी का परिणाम है कि आज सामाजिक दृश्य हास्य का विषय बना हुआ है। जैन अथवा सवर्ण के बच्चे-बच्चियां किधर जा रहे हैं? उनकी रोकथाम कौन करे? समाज के प्रति निरपेक्ष भाव ने समाज को भारी हानि पहुंचाई है। अभी भी लोग कानों में तेल डालकर सो रहे हैं। समाज के प्रति हमदर्दी रखने वालों के लिए अब करवट लेने का वक्त है। उन्हें यह नहीं सोचना चाहिए कि हमारी कौन सुनेगा। हमको सुनाना नहीं है, बल्कि करके दिखाना है। हमारा कार्य बोले, न कि हमें बोलना पड़े। हमारा कार्य ही सुनाने वाला हो। यदि महात्मा गांधी, सुभाषचन्द्र बोस आदि भी ऐसा ही सोच लेते तो क्या नजारा होता? यदि संत भी यही सोच ले तो क्या वे प्रवचन दे पाएंगे? हम निराशा से बाहर निकलें। कर्तव्य को समझें एवं उस पर डट जाएं। परिणाम की चिन्ता नहीं करें। अच्छे ध्येय से किए गए कार्य का परिणाम अच्छा ही होगा। अतः हमारी कौन सुनेगा आदि निराशा की खाल को उतार फेंकें और सुदृढ़ विचारों से स्वयं का कर्तव्य निर्धारित करें।





अत्याचार को सहें नहीं जीते

94

अर्जुन माली के प्रकरण में बताया गया है कि वह यक्षाविष्ट हो रोज 6 पुरुष और स्त्री की घात करता रहा। इस प्रकार से उसने 1141 व्यक्तियों की घात कर दी। इस संदर्भ में विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि ललित गोष्ठी द्वारा की जा रही अराजकता को, अत्याचारों को लोग सहते रहे, जिससे उस गोष्ठी के हौसले बढ़ते रहे, उसी की प्रतिक्रिया में अर्जुन के द्वारा हिंसा का खेल खेला गया। हकीकत में विचार करें तो अत्याचार को जो बढ़ावा देते हैं, जो उसके खिलाफ आवाज नहीं उठाते, वे भी कहीं न कहीं उस अत्याचार को बढ़ावा देने वाले होते हैं। उस दृष्टि से वे सभी अपराधी की श्रेणी में खड़े दिखते हैं। आतंकवाद का जन्म ऐसी ही पृष्ठभूमि से होता है। जो लोग सताए जा रहे होते हैं, उनकी सहनशक्ति जब जवाब दे देती है, तब वे उसके प्रतिकार के लिए शस्त्र हाथ में उठा लेते हैं। हो सकता है वर्तमान आतंकवाद का जन्म ऐसे न हुआ हो। उसका अन्य भी कोई कारण रहा हो, किन्तु यह निश्चित है कि जब आदमी प्रताड़ित होता है तो उसके भीतर आक्रोश व बदला लेने की भावना जागृत हो जाया करती है।

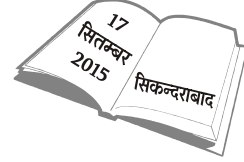
ललित गोष्ठी के संदर्भ में विचार करें तो जीवन के 6 दुर्गुण हैं। ये हैं - काम, क्रोध, मद, मत्सर, दुर्मति और तृष्णा। इनके साथ जब हमारी बुद्धि जुड़ जाती है तो अपराध वृत्ति को बढ़ावा मिल जाता है। काम, क्रोधादि एक-एक दुर्गुण भी बड़े घातक हैं, तो छहों एक साथ हो जाएं और बुद्धि भी तद्नुरूप बन जाए, तब तो कहना ही क्या? यदि बुद्धि उनका साथ न दे तो उन छहों के हौसले पस्त हो जाएं। बुद्धि के सहयोग से हौसले बुलन्द हो जाते हैं। अतः ऐसे दुर्गुणों से अपनी बुद्धि को बचाने का लक्ष्य रखना चाहिए।

सामाजिक स्तर पर व्याप्त बुराईयां भी एकात्म भाव के अभाव में बढ़ती हैं। यदि समाज संगठित रूप से उनका बहिष्कार करने को तत्पर हो जाए तो समाज में जल्दी से बुराई व्याप्त ही नहीं हो पाएगी। यदि कभी हो भी गई तो उसका मुकाबला भी संगठित रूप में आसानी से हो सकता है। समाज को कायरतापूर्ण भावना से ऊपर उठकर अनैतिक आचरण से लड़ने के लिए चुस्त हो जाना चाहिए।



95

शुद्ध आलम्बन आदरे

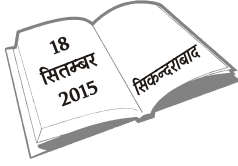


साधना के लिए आलम्बन का शुद्ध होना बहुत आवश्यक है। आलम्बन का अर्थ है – सहारा। हम जिसका सहारा लेना चाहते हैं, वह सहारे के योग्य भी है या नहीं। किसी ने एक लकड़ी के स्तम्भ का सहारा लिया, किन्तु उसमें दीमक लगी होने से वह उसका भार झेल नहीं सका। वह स्वयं भी टूट गया और उसका सहारा लेने वाला भी गिर गया।

स्पष्ट है सहारा लेने के पहले यह नहीं देखा गया कि वह स्तम्भ उसके भार को झेलने में समर्थ है या नहीं। जैसे स्तम्भ रूपी द्रव्य आलम्बन के सशक्त नहीं होने से सहारा लेने वाले का पतन हुआ, वैसे ही साधना के क्षेत्र में भी आलम्बन शुद्ध नहीं हो तो साधक की साधना सम्यक प्रकारेण गतिशील बनी रह सके, यह कठिन है। इसलिए साधक को साधना के अनुरूप आलम्बन की खोज करना चाहिए। ऐसा तब होगा जब साधक की साधना का लक्ष्य स्पष्ट होगा। जैसे मुम्बई जाने वाला मुम्बई जाने वाली गाड़ी पर ही सवार होता है, अन्य गाड़ियों पर नहीं। वैसे ही साधना का जो उद्देश्य हो, उसी ओर, उस दिशा में बढ़ना चाहिए। अध्यात्म साधकों की साधना का लक्ष्य समाधि एवं मुक्ति है। समाधि एवं मुक्ति का हेतु है – ज्ञान-दर्शन व चारित्र। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि इनका सम्यक होना जरूरी है।

सम्यग्ज्ञान आत्मा की पहचान के बिना संभव नहीं है। जब साधक स्वयं को जानेगा ही नहीं तो वह उस स्वरूप-समाधि को पाने के लिए प्रयत्न ही कैसे कर पाएगा? अतः स्पष्ट है यदि साधक समाधि व मुक्ति चाहता हो तो उसे उसी लक्ष्य के अनुरूप अपना आधार बनाना चाहिए। अन्यथा पथ भटकने जैसी स्थिति बनना संभव है। एक बार पथ भटकने के बाद वापस कब सुपथ मिल पाए यह कहना कठिन है। अतः साधना के अनुरूप आलम्बन स्वीकार करना चाहिए। संक्षिप्त रूप से कहें तो देव गुरु धर्म ही आधार बन सकते हैं। रत्नत्रय, सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र ही सही हेतु एवं सुदेव-सुगुरु और सुधर्म ही सही आलम्बन हो सकते हैं।



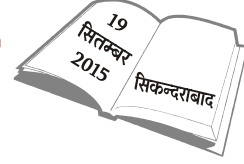


मनःस्थिति प्रवाह में न बहे



परिस्थितियां आती हैं, चली जाती हैं। मनःस्थिति ठहर जाती है। मनःस्थिति को लेप रहित बनाए रखना बहुत कठिन है। जैसे स्नेह भरे भोजन को स्नेह-तैल-घृतादि से रिक्त कर देने के पश्चात् भी यदि उसमें आटा, मैदा आदि भरा जाता है तो उसमें तेल आदि का लेप लग ही जाता है। आर्द्रता जहां रहती है, वहां निर्लेपता असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। कषायों की आर्द्रता से मनःस्थिति लेप युक्त बन जाती है। उसे शुद्ध करना दुःशक्य होता है। मनःस्थिति को परिष्कृत रखने के लिए यह जरूरी है कि उसे कषायों से आर्द्र न होने दें और न ही वहां किसी व्यर्थ की बात को जमने दें। अधिकांशतः होता यह है कि लोग व्यर्थ की बातों को ही ज्यादा पकड़कर रखा करते हैं। घर, दुकान, ऑफिस आदि के कचरे को तो लोग निकालकर बाहर फेंक देते हैं, किन्तु व्यर्थ की बातों का कचरा इकट्ठा करते रहते हैं। रत्नों के पारखी भी इस स्थिति में भूल जाते हैं कि ये रत्न नहीं हैं अपितु कांच के कंचे हैं। मनःस्थिति बदलते ही ये चीजें, व्यर्थ की बातें, व्यक्तियों को ज्यादा रुचा करती है। वह उन्हीं का संग्रहण करता रहता है। क्या वस्तुतः उससे वह जीवन का आनन्द ले पाएगा ? यदि कहा जाए कि कभी नहीं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं रहेगी। अतः हमें चाहिए कि हम सन्मति को बढ़ावा दें। ताकि मनःस्थिति हमें परेशान नहीं कर सके। सन्मति के जागृत होते ही वह कचरे को अपने में जमने नहीं देगी। बल्कि कभी योग से वैसा हो भी गया तो वह उसका संग्रह नहीं करेगी। कचरा जहां इकट्ठा होता है, वह जगह दुर्गन्धयुक्त बनती है। वहां जर्म्स (कीटाणु) पैदा होते हैं। ठीक उसी प्रकार जब हमारी मनःस्थिति कचरा ग्रहण करती रहेगी तो वैचारिक मच्छरों से उसे परेशान होना ही होगा। कोई उसे कितना भी बचाने का प्रयत्न करे, पर सारे प्रयत्न व्यर्थ ही सिद्ध होंगे। जब भी हो मनःस्थिति का संशोधन स्वयं को ही करना पड़ेगा। स्वयं का पुरुषार्थ ही उसे सही बना सकता है एवं जीवन में सम्यक आनन्द ला सकता है। मनःस्थिति प्रवाह में न बहे। इसके लिए सावधान हो जाएं।

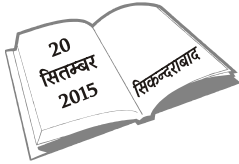




क्षमा शब्द का निर्वचन करने से 'क्ष'-क्षरण और 'मा'- मत होने दो। यानी आत्म गुणों का ह्यस मत होने दो। आत्मा का पतन मत होने दो। क्षमा से विमुक्त होते ही आत्मा, आत्म-धर्म से च्युत हो जाती है। क्रोधादि आत्म-गुण नहीं हैं, बल्कि उस अवस्था में आत्म विस्मृति की ही संभावना रहती है। क्षमा के निर्वचन से यह तो समझ में आया कि आत्म गुणों का क्षरण नहीं होने दें, किन्तु प्रश्न यह है कि उस क्षरण को रोका कैसे जाए? वस्तुतः 'क्षरण न हो', यह एक सिद्धान्त है, लेकिन क्षरण नहीं हो उसका उपाय क्या है? यद्यपि क्षमा आत्मगुण है। उसके रहते अन्य आत्मगुणों का क्षरण होना संभव ही नहीं है। तदपि जब क्षमा गुण गौण हो जाता है, तब क्षरण होना प्रारम्भ हो जाता है। भूमि यदि समतल हो तो उसका क्षरण सहसा नहीं होता है, किन्तु भूमि यदि ढलान की होती है तो पानी के बहाव से उसका क्षरण होना संभव है, स्वाभाविक है। उस स्थिति में भू-विज्ञ वहां वृक्षारोपण की सलाह देते हैं। वृक्षों के खड़े हो जाने पर उस भू का क्षरण रुक जाता है। जैसे भू क्षरण रोकने के लिए पौधारोपण किया जाता है, वैसे ही आत्मगुणों का क्षरण न हो इसलिए समता, सहिष्णुता, धैर्यादि सद्गुण रूपी वृक्षों का रोपण आत्मा में किया जाना चाहिए। उस प्रकार के सद्गुणों के फलने से चाहे उतेजना के कैसे भी प्रसंग आ जाएं, असत्य कल्पना से यदि वध का भी प्रसंग उपस्थित हो जाए तो भी वह आत्मा विचलित नहीं हो सकती, क्योंकि उसने स्वयं को इतना भावित कर लिया होता है कि बाह्य उतेजनादि के अवसर उसे उद्वेलित नहीं कर सकते।

क्षरण होते आत्म गुणों को रोकने का एक उपाय यह भी है कि कर्ण कटु अन्तर में चुभने वाले शब्दों की कोई बौछार करे अथवा वैसा ही व्यवहार करे तो उस समय स्वयं को खामोश रखे। हो सके तो उसे सुने ही नहीं, देखे ही नहीं। अर्थात् उस ओर ध्यान ही न दे। यदि वैसा नहीं हो पाए तो इतना ध्यान अवश्य रखे कि तत्काल उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त न करे। इतना-सा भी यदि ध्यान रख लिया तो आत्मगुणों के होने वाले क्षरण को रोका जा सकता है।



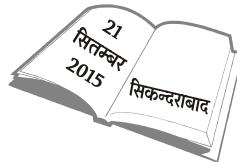


आशातना अपराध है

98

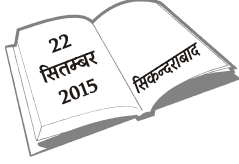
काष्ठ कितना भी अच्छा हो पर उसमें दीमक लग जाए तो वह काष्ठ न तो उतना शक्तिशाली रह पाएगा और न ही उसकी सुन्दरता ही रह पाएगी। दीमक ने उसे भीतर ही भीतर खाया हो तो वह ऊपर से सुन्दर रह भी सकता है, किन्तु उसकी आन्तरिक शक्ति उतनी सुदृढ़ रह ही नहीं सकती। ठीक इसी प्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र का ऊपरी रूप कितना ही सुन्दर हो, लेकिन यदि उसमें आशातना की दीमक लग जाए तो वह ज्ञान-दर्शन-चारित्र संसार सागर से तिरा नहीं सकता। ऊपरी तौर पर क्रियाएं तो रह सकती हैं, किन्तु भीतर ही भीतर वह खोखला हो जाता है। उस ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मिक आनन्द नहीं आ पाता। आत्मिक आनन्द निर्दोष आराधना से प्राप्त होता है। आशातना सरसों को आग में जलाने के समान है। सरसों के समान ज्ञानादि है। आशातना को आग के समान बताया है। यह भी कहा जा सकता है कि आशातना घर को जलाकर सर्दी को दूर करने के समान है, उस आग से शरीर को तपाने के समान है। ऐसा कार्य कौन कर सकता है? ऐसा कार्य करने वाले को किस उपमा से उपमित किया जा सकता है, यह स्वयं विचारने की बात है। कोई पागल या मूर्ख ही ऐसा कार्य कर सकता है। समझदार व्यक्ति ऐसा काम कभी नहीं कर सकता। सर्दी को दूर करने के लिए घर को ही जला दिया तो थोड़े समय तक वह हर्ष मना सकता है, किन्तु बाद में इसे उससे भारी संताप का सामना करना पड़ेगा, यह निश्चित है। आशातना के संदर्भ में श्री दशवैकालिक सूत्र के ये भाव समझे जा सकते हैं कि 'घर में आती हुई लक्ष्मी को कोई डंडा दिखाकर उसे बाहर धकेलता है, वैसे ही आशातना करने वाला ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी लक्ष्मी को डण्डे मारकर बाहर धकेलने वाला होता है।' आशातना केवल गुरु की ही नहीं होती। यह अरिहंत-सिद्ध आदि की भी होती है। आगमों में तैत्तिरीय आशातनाएं बताई गई हैं। गुरु की की जाने वाली आशातना के भी तैत्तिरीय प्रकार बताए गए हैं। आशातना का अर्थ गुरु को हल्का समझना, उसकी कदर्थना करना आदि रूप है। इससे आशातना करने वाले की मुक्ति नहीं हो पाती जैसा कि श्रीमद् दशवैकालिक में कहा गया है, 'न यावि मोक्खो गुरु हीलणाए।' आशातना एक प्रकार से आध्यात्मिक अपराध है।





कपड़े की दुकान पर कपड़ा मिलता है, अनाज की दुकान पर अनाज। इसी प्रकार सोने की दुकान पर सोना व अन्य-अन्य दुकानों पर अन्यान्य वस्तुएं प्राप्त होती हैं। यदि कोई पूछ ले तुम्हारी दुकान में क्या-क्या माल है, तो क्या कहोगे? यदि कपड़े की दुकान है तो वह कपड़े की वैरायटी (प्रकारों) की बात कर सकता है, किन्तु स्वर्णाभूषणों के विषय में वह कुछ भी नहीं कहेगा। वह कह सकता है कि इसके लिए तुम सोने की दुकान पर जाओ। यह बात तो बाह्य दुकान व उसमें रहने वाले माल के विषय में हुई। आन्तरिक दृष्टि से यदि कोई पूछे कि तुम्हारे पास क्या-क्या माल है, तब हम क्या बता पाएंगे? मैं तो यह चाहता हूँ कि हमारी आन्तरिक दुकान में एक मात्र एक ही क्षमा हो। उसकी वैरायटी भी एक ही हो। यदि कोई हजार गुनाह कर दे, हमारे भीतर एक ही भाव हो क्षमा....क्षमा.....क्षमा। मक्खन को कोई कहीं से स्पर्श करे वह नम व चिकना ही लगेगा, वैसे ही हमारे साथ कोई कैसा भी व्यवहार करे, भले ही कितना ही कुछ कर दे, हमारे अन्तर से एक ही आवाज निकले कि क्षमा.....क्षमा.....क्षमा। किन्तु ऐसा तब संभव होगा जब उसमें गहरे घुल जाएं। क्षमा एवं हमारी पर्याय एक बन जाए। यदि ऐसा होता है तो हमारे अन्दर से एक मात्र क्षमा का ही स्वर मुखरित होगा। कदाचित् स्वर मुखरित न भी हो तब भी हमारा भाव, व्यवहार पूर्णतः क्षमामय होगा। हमारे विचारों में कहीं कोई अन्यथा न हो। किसी ने हमारे साथ कुछ गलत व्यवहार भी कर दिया हो, हमारा भारी नुकसान भी कर दिया हो, फिर भी उसका कोई निशान हमारे दिल पर अंकित न हो। इसके लिए आवश्यक है कि कोई कितना भी बिगाड़ क्यों न कर दे, हमें लगे नहीं कि कुछ भी बिगाड़ हुआ है। बाह्य-पदार्थ का बिगाड़ तेरा नहीं है। जो तुम्हारा है उसे कोई बिगाड़ नहीं सकता। यदि हमारा कुछ बिगाड़ होता है तो उसके जवाबदार हम स्वयं हैं। दो एक्शनों पर ध्यान दें। एक जब कोई किसी को चांटा लगाने को तत्पर होता है, दूसरा जब किसी को सांत्वना देने को तत्पर होता है। चांटा लगाने के एक्शन में हाथ पीछे खिसकेगा, जबकि सांत्वना देने की मुद्रा में हाथ आगे आएगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि चांटा लगाने के भाव व्यक्ति को पीछे ले जाते हैं एवं सांत्वना देने के भाव आगे बढ़ाते हैं। अन्तर हमारे भीतर क्षमा का ही प्राचुर्य हो, ताकि हम अग्रगामी बन सकें।





क्रिया स्व-पर सापेक्ष

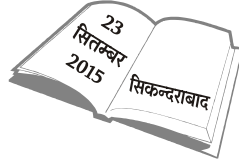


आत्मा क्रियाशील है। आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति से ही उसकी क्रियाशीलता फलित होती है। क्रियाशीलता के दो प्रकार हैं - स्व सापेक्ष और पर सापेक्ष। स्व सापेक्ष क्रिया आत्म परिणमन रूप होती है, वह सामान्य है। यानी वह क्रिया प्रत्येक द्रव्य में घटित होती है। प्रत्येक सत्पदार्थ उत्पाद, व्याय ओर ध्रुव्ययुक्त होता है। अतः जो भी पदार्थ है उसमें स्व सापेक्ष क्रिया होती ही है। वह द्रव्य चाहे धर्मास्तिकाय हो या अन्य, सभी सद्भुत पदार्थों में वह क्रिया होती ही है। जो जीव सिद्ध हो जाता है, जिसका सिद्धत्व प्रकट हो जाता है, उसमें भी स्वात्म परिणमन होता ही है।

जो क्रिया पर सापेक्ष होती है वह केवल जीव और पुद्गल की ही होती है। जो जीव कर्मों से बंधा हुआ है, उसकी क्रिया में कर्म कारण-भूत होता है। अतः वह पर-सापेक्ष है। जीव का उठना-बैठना, खाना-पीना आदि सारी क्रियाएं पर सापेक्ष हैं, क्योंकि इन क्रियाओं में शरीर की अपेक्षा होती है। शरीर पौद्गलिक है। पुद्गल जड़ है। वह जीव रूप नहीं है। किन्तु संसारी जीव के द्वारा गृहित होने से उसे एक समय तक जीव की संज्ञा प्राप्त होती है। उसके माध्यम से जीव जो भी क्रिया करता है, वह पर सापेक्ष है। क्रिया पर सापेक्ष होने पर भी वह क्रिया जीव द्वारा ही की जाती है। इसलिए उसका फल भी उसी को भोगना पड़ता है। इतना ही नहीं जब जीव से शरीर से भी जो क्रियाएं होंगी, उन क्रियाओं का सम्बन्ध भी उसी जीव से रहता है। क्योंकि शरीर का त्याग नहीं कर पाने की स्थिति में वह उसी की सम्पत्ति मानी जाती है। उसका ममत्व, उसका लगाव उसके साथ बना ही रहता है। इसलिए वह तज्जन्य क्रियाओं का भागी बनता है।

संसार में रहता हुआ जीव अधिकतर पर सापेक्ष क्रिया पर ही ध्यान देता है। वह स्व सापेक्ष क्रियाशीलता को जान ही नहीं पाता। जब जान लेता है कि स्व सापेक्ष क्रिया का स्वरूप क्या है, तब वह पर सापेक्ष क्रिया को मोड़ देता है। एक दिन ऐसा आता है जब पर सापेक्ष क्रिया रुक जाती है, तब मात्र स्व सापेक्ष क्रिया ही रह जाती है। वही अवस्था उसकी अपनी है।





अधिकरण शब्द का अर्थ है - कलह। अधिकरण का एक अर्थ नरक आदि दुर्गति का कारण रूप भी बताया गया है। कुल मिलाकर, अधिकरण आत्मा की अवनत दिशा है अथवा आत्मा को अवनत बनाने वाली एक अवस्था है। उसके द्रव्य भाव रूप से दो भेद भी किए गए हैं।

हिंसात्मक शस्त्रों का अनावश्यक संग्रह द्रव्य अधिकरण है एवं भाव अधिकरण कलह रूप है। कलह के कारण जीव की दुर्गति होती है। राजस्थान में कहा जाता रहा है कि 'कलह सूं कळसिये रो पाणी घटे।' अर्थात् कलह से धन की, साख की हानि होती है। द्रव्य धन भी नष्ट होता है और भाव धन की हानि तो प्रत्यक्ष ही है, क्योंकि कलह से शान्ति का क्षरण होता, अशान्ति का जन्म होता है।

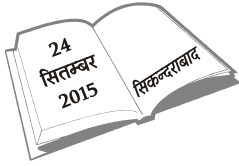
परिवार-समाज में जो टूटन पैदा होती है उसका मूल कारण अधिकरण है, यदि ऐसा कह दें तो अति नहीं होगा। भाई-भाई के झगड़े, सास-बहू, बाप-बेटे, देवरानी-जेठानी और पता नहीं ऐसे कितने ही झगड़ों की फाइलों को अदालत में देखा जा सकता है।

अधिकरण से होने वाली हानियों की चर्चा करते हुए वृहत्कल्प भाष्यकार कहते हैं कि 'अधिकरण के ये दोष हैं - ताप, भेद अकीर्ति, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की हानि और संसार भ्रमण।'

इस प्रकार से अधिकरण आत्मा के लिए अत्यन्त घातक है। अधिकरण से कई बार व्यक्ति में इतना ताप बढ़ जाता है कि उसके शिर की नस फट जाती है, हार्ट अटैक आ जाता है। घर-घर, गांव-गांव में हो रही टूटन का अनुभव तो प्रायः सामान्य है।

विरल परिवार या गांव बचा होगा जो आदर्श घर या गांव की श्रेणी में आता हो, जिसमें टूटन न हो अन्यथा प्रायः गांव-गांव की, घर-घर की यही कहानी है। आत्मा को दुर्गति की अधिकारिणी बनाने से बचाना है तो आज से अधिकरण को विदा कर दें।



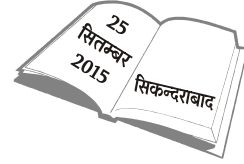


गुरु शिष्य का सुखद संयोग



गुरु और शिष्य का सम्बन्ध अध्यात्म है। वहां शारीरिक या आर्थिक रिश्ता नहीं है। उनके सम्बन्ध में मोह का भी कोई रोल नहीं होता। गुरु, शिष्य के हित चिन्तक होते हैं। शिष्य भी गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित होता है। वह मन से एकात्म भाव वाला होता है। गुरु को वह अपने में अनुभव करता है। गुरु के प्रति द्वेष-भाव उसको स्वप्न में भी नहीं आता। वह गुरु की अनन्य भाव से सेवा करता है। उसके प्रति कल की कोई चाह नहीं होती। गुरु की सेवा, पर्युपासना उसके चित्त को आह्लादित करती है। वह उस प्रकार का कार्य भक्ति से सराबोर हो सम्पन्न करता है। वह स्वयं को भी उस समय विस्मृत कर देता है। यों कहो कि उसे उस समय अपनी सुध-बुध नहीं रहती। वह भक्ति में तल्लीन हो जाता है। गुरु के इशारे से पूर्व वह गुरु के कार्यों को सम्पादित करने वाला होता है। गुरु को यदि उसके रहते किसी कार्य के लिए कहना पड़े तो वह उसके लिए मरण तुल्य है। इसका तात्पर्य यह है कि गुरु को कहना पड़े, वह वैसा अवसर ही नहीं आने देता। गुरु के कार्यों को वह गुरु का प्रसाद मानता है। वस्तुतः गुरु के मन में उसकी भक्ति से प्रसाद भाव (प्रसन्नता) पैदा होता है। वह उसे ही प्रसाद (कृपा) के रूप में अनुभव करता है। इससे सम्बन्ध की एकात्मकता भली-भांति स्पष्ट हो जाती है। गुरु की उपासना से उसे वैनयिकी बुद्धि प्राप्त होती है, जो हर किसी को लब्ध नहीं होती। गुरु के कण-कण से वात्सल्य, आशीर्वाद प्रवाहित होता रहता है। उस वात्सल्य, आशीर्वाद को ग्रहण करने की क्षमता भी उसी में होती है। जैसे सिंहनी के दूध को हर किसी भाजन में नहीं लिया जा सकता है, वैसे ही गुरु के आशीर्वाद का भी विनयी शिष्य ही सुयोग्य भाजन है। वही उसे झेलने में समर्थ हो पाता है। इसमें दोनों तरफ आत्मा की प्रमुखता है। शिष्य गुरु की आत्मा से तादात्म्य स्थापित करता है, गुरु भी शिष्य की आत्मा का हित चिन्तन करते हैं। उसे वे स्वात्म रूप से ही देखते हैं। शिष्य गुरु की प्राप्ति से स्वयं को धन्य-धन्य मानता है, तो गुरु भी उस प्रकार के शिष्य को पाकर धन्य हो जाते हैं। वे अपने भार को हल्का कर पाते हैं। भार से वे मुक्त हो पाते हैं। धन्य है गुरु, धन्य-धन्य है शिष्य।

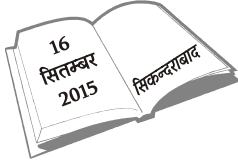




दशाश्रुत स्कन्ध का अध्ययन कर रहा था। दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि शब्दों की परिभाषाएं, उनसे होने वाले लाभादि का पठन करते हुए दर्शन शब्द में थोड़े समय के लिए खो गया। उस समय ऐसी अनुभूति हुई कि दर्शन का तात्पर्य है- दारिद्र्यता से रहित होना एवं शठता का नहीं होना। द- दरिद्रता। र्- रहित। श- शठता। न- नहीं। यानी दरिद्रता और शठता का जिसमें अभाव होता है, वह दर्शन होता है। दर्शन वैचारिक वैभव का अपर नाम भी है। मिथ्यात्व से बढ़कर और दरिद्रता क्या होगी? तथा सम्यक्तव से बढ़कर और वैभव क्या होगा?

श्रेणिक ने राज्य में आग लगने पर भंत्रा आदि राजकीय चिह्नों को निकाला था। उनका मानना था कि भंत्रा होगा तो राज्य का पुनर्वास संभव है अथवा उससे नए राज्य को प्राप्त किया जा सकता है। जैसे भंत्रा को राज्य प्राप्ति का सहायक माना गया है, वैसे ही मोक्ष रूप राज्य की प्राप्ति सम्यक्तव से ही संभव है। यदि सम्यक्तव है तो अन्य अपेक्षाएं स्वतः प्राप्त होंगी। सुना जा रहा है कि भारत के वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र जी मोदी अपने वैचारिक वैभव से ही विश्व में महत्त्व प्राप्त कर पाए हैं। यह उनका वैचारिक वैभव ही है कि जिसने उनको ख्याति प्राप्त करवाई। बुद्धि निष्पन्न वैचारिक वैभव यदि महत्त्व एवं ख्याति प्राप्त कराता है तो शुद्ध सम्यक्तव रूप वैचारिक वैभव अनन्त सुख रूप मोक्ष को प्राप्त कराता है। सम्यक्तव यदि जीव को प्राप्त है तो उसके समक्ष चक्रवर्ती संप्राट का वैभव भी फीका है। अतः दर्शन-सम्यक्तव दारिद्र्य से कोसों दूर है। दर्शन से दूसरा गुण प्रकट होता है, शठता नहीं होना। शठता, धूर्तता क्या है? यह वैचारिक प्रदूषण ही तो है। सम्यक्तव होने पर वह उसमें नहीं हो सकता। सम्यक्तव और शठता का तालमेल ही नहीं है। शठता-मिथ्यात्व की सहचरी हो सकती है। उसकी दोस्ती मिथ्यात्व से ही निभ सकती है। सम्यक्तव के साथ उसका सम्बन्ध हो पाना अशक्य है। सम्यक्तव से जीव की भाव धारा सरल हो जाती है। उसकी वक्रता नष्ट हो जाती है। शठता, बिना वक्रता के संभव नहीं। अतः दर्शन का तात्पर्य दारिद्र्य और शठता से रहित होना उपयुक्त ही प्रतीत होता है। दर्शन वस्तुतः अध्यात्म-क्षेत्र का महत्त्वपूर्ण बिन्दु है। जैसे कहा जाता है कि सारे अक्षरों की उत्पत्ति शून्य से हुई है, वैसे ही आत्मगुणों का प्रकटीकरण सम्यक्तव रूपी बिन्दु से ही संभव है।





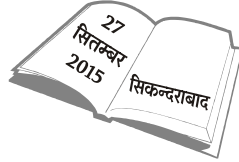
देह को भजे सो दुखी होय



जब देह की तरफ ध्यान रहेगा तो वह वेदन करने वाला होगा। यदि तन भाव से उपरत हो जाए तो शरीर में व शरीर पर होने वाली घटनाएं आत्मा पर असर नहीं कर पाएंगी। जीव का ज्ञानोपयोग जब स्वयं में केन्द्रित होता है, उस समय आत्मा की दयनीय दशा उसे उद्वेलित कर सकती है कि तुमने आत्मा की क्या दशा बना डाली है। शरीर पर ध्यान रहेगा तो उसके औषाधोपचार के लिए मन उत्प्रेरित होगा। आत्मा पर ध्यान केन्द्रित होगा तो आत्मा का उपचार करने का सोचेगा।

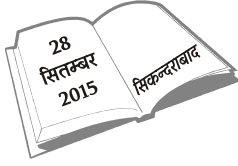
सनत् कुमार चक्रवर्ती मुनि बन गए। शरीर सोलह महारोगों का घर बन चुका था, किन्तु उन्होंने उसके उपचार की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया। वस्तुतः उनका ध्यान उसकी तरफ से हट ही चुका था। वे आत्म-भाव में रमण करते हुए आत्मा को अरुत बनाने में लगे थे। अतः हकीकत यह है कि जब हम आत्म रमण में रत रहते हैं तब शरीर की बीमारी हमें दुःखी नहीं कर सकती। उस समय यदि कोई देह का हनन भी कर दे तो उसे तद्विषयक पीड़ा नहीं होगी, क्योंकि उस समय उसका उपयोग उधर है ही नहीं। यह विषय अनुभूत है। मेरे स्वयं को 'माइग्रेन' की तकलीफ थी। जब उसका दर्द उठता, भयंकर वेदना होती। उसी समय यदि व्याख्यान या प्रश्नोत्तरादि कार्य में रत होने का प्रसंग बन जाता तो दो-चार मिनट में माइग्रेन का दर्द कहां रफूचकर हो जाता, पता ही नहीं पड़ता। इसका कारण यह था कि उस समय शिरोवेदना की तरफ से ध्यान हट गया। उस समय मुख्यता प्रवचनादि की बन गई। ध्यान उसमें चला गया। ध्यान उधर गया तो इधर क्या हो रहा है, उसका संवेदन गौण हो गया। यदि शरीर की वेदना से कोई पीड़ित हो, डॉक्टरों ने भी हाथ खींच लिए हो तो उसके लिए बहुत उत्तम उपाय है कि तन भाव से वह उपरत हो जाए। आत्म लीन हो जाए। देह भाव से उपरत हो जाने पर अनाथी मुनि, नमि राजर्षि आदि की पीड़ा कुछ क्षणों में ही शान्त हो गई थी।





जैनागमों में तैंतीस आशातनाओं का सम्यक विवरण प्राप्त है। उस पर यदि विचार करें तो ज्ञात होगा कि वह विवरण शिष्टाचार की महत्त्वपूर्ण पृष्ठभूमि है। साधु का व्यवहार उच्च सभ्यता का परिचायक होना चाहिए। उसी सभ्यता का संसूचन उक्त विवरण से फलित होता है। आचार्य पूज्य गुरुदेव श्री नानालाल जी म. सा. फरमाया करते थे कि 'साधु यानी श्रेष्ठ। जिसका आचरण-व्यवहार सर्वोत्तम हो, वह श्रेष्ठ है। तदनुसार साधुओं का व्यवहार सामान्य लोगों की अपेक्षा अत्युत्तम होना चाहिए।' लोकसभा, विधानसभा, राज्यसभा, विधान परिषदादि राजकीय सभाएं एवं सामाजिक सभाओं के व्यावहारिक धरातल से साधु-समुदाय का व्यावहारिक धरातल उच्च होना चाहिए। जैसा व्यवहार अन्यत्र दुर्लभ हो वैसा व्यवहार साधु का होना चाहिए। तैंतीस आशातनाओं का वर्जन उसी दिशा को प्रस्तुत करता है। गुरुजनों के आगे-पीछे, दाएं-बाएं चलने, उठने-बैठने आदि प्रसंगों पर साधु का ध्यान कैसा रहना चाहिए। रात्रिक अर्थात् बड़े साधुओं के प्रति किंचित् भी अवज्ञा का भाव नहीं होना चाहिए। उनके समादर में कहीं कमी नहीं होनी चाहिए। क्या ही आदर्श सभ्यता का दिग्दर्शन है यह तैंतीस आशातनाओं का विवरण। इस एक विवरण से जैनाचार के व्यवहार की उत्कृष्ट, अमिट छाप जन समुदाय को प्रभावित किए बिना नहीं रह सकती। एक तरफ आशातना का भव्य विवरण तो दूसरी तरफ आशातना किनकी नहीं करना, इसका भी विशिष्ट विवरण प्राप्त है। केवल साधु-साध्वी की ही नहीं, श्रावक-श्राविका की ही नहीं, प्राणभूत जीव सत्व, यानी प्राणी मात्र की अवज्ञा नहीं करना। उनको तिरस्कृत नहीं करना। अवज्ञा व तिरस्कार के भावों से ही व्यवहार अशिष्ट होता है। इसलिए आशातना के माध्यम से उसका बोध कराया गया। अवज्ञा-तिरस्कार के भावों में कुटिलता होना सहज स्वाभाविक है। उसमें अहंकार एवं दम्भ के भी दर्शन होंगे। जहां अहंकार नहीं, वहां अवज्ञा नहीं हो सकती। अतः आशातना के विवरण से यह ध्वनित होता है कि जैनमुनि जो भी व्यवहार करें, उसमें सरलता तो होनी ही चाहिए, साथ ही शून्य चित्त नहीं होना चाहिए। उसे यतना व उपयोगपूर्वक व्यवहार करने वाला होना चाहिए।

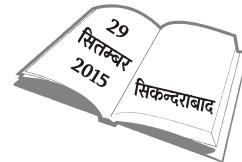




ऊर्जा का अखूट स्रोत 106

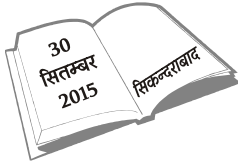
अध्यात्म ऊर्जा का अखूट स्रोत है। अध्यात्म भाव में व्यक्ति जब तक रहता है, वह स्वयं को ऊर्जा से सराबोर करता रहता है। निरन्तर अध्यात्म भाव में रहने से यदि अकस्मात् कोई अचिन्त्य घटना भी घट जाए तो उस पर उसका सहसा प्रभाव नहीं होगा। आध्यात्मिक व्यक्ति जल्दी किसी से प्रभावित नहीं होता है। वह यदि प्रभावित होता है तो किन्हीं आध्यात्मिक विचारों से ही। अन्य विचार उसको अपने प्रभाव में नहीं ले सकते। भौतिकता में जीने वाला भौतिक विचारों से तो प्रभावित होता ही है, आध्यात्मिक विचार भी उसे प्रभावित करते हैं। यह बात अलग है कि आध्यात्मिक विचारों को वह दीर्घाकार नहीं दे पाता। जैसे वर्षा की बूँदाबाँदी किसी को आर्द्र तो कर देती है, किन्तु वह आर्द्रता दीर्घकालिक नहीं होती। थोड़ी-सी हवा-धूप उसे सोख लेती है, वैसे ही निरन्तर भौतिक विचारों में जीने वाला कभी आध्यात्मिक विचारों से भीगता तो है, किन्तु जैसे ही उस वातावरण में बदलाव आएगा वह बदल जाएगा। वे आध्यात्मिक विचार उसके गहरे में नहीं पैठ पाते। जब तक आध्यात्मिक विचार अन्तर में पैठ न जाए अथवा वह स्वभाव न बन जाए तब तक कोई उन विचारों में आकण्ठ डूब भी जाए तो भी वह उनका सच्चा आनन्द नहीं उठा सकता। उनसे जो ऊर्जा प्राप्त होती है, वह उसमें नहीं हो पाएगी। तालाब में, नदी में कई लोग आकण्ठ डूब जाते हैं, किन्तु वहाँ से बाहर आते ही वह पानी टपक-टपक कर सूख जाता है। थोड़े समय के लिए शरीर सुखानुभूति करता है, किन्तु जैसे ही सूर्य ताप से उसके शरीर में पसीना होता है, फिर से उसकी दशा वैसी ही बन जाती है। व्यक्ति स्वयं को ऐसा बनाए कि बाह्य ताप उसकी आध्यात्मिक आर्द्रता को सोख न सके। यह स्थिति निरन्तर आध्यात्मिक रमण से प्राप्त हो सकती है, होती है। महासती सीता-मयणरेहा सुलसा आदि के जीवन प्रसंग इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। सेठ सुदर्शन, कामदेवादि के जीवन-प्रसंग प्रेरणा पाथेय है। स्कन्दक-खन्दक मुनि, गजसुकमाल मुनि का जीवन आज भी उतना ही सजीव है। आओ हम भी आध्यात्मिक ऊर्जा से स्वयं को ऊर्जावान बनाएं।





मैं क्या कर रहा हूँ, इस पर गौर करने के बजाए मैं क्या सोच रहा हूँ, उस पर ध्यान देना चाहिए। करना तब होता है जब अन्दर में उसका नक्शा तैयार होता है। इसलिए क्रिया के बजाए अपने विचारों को देखना चाहिए। विचार यदि सही होंगे तो क्रिया सहसा गलत नहीं होगी। विचार यदि निर्मल हैं, पवित्र हैं तो उन विचारों से प्रेरित क्रिया भी शुभ रूप हो पाएगी। अशुभ विचारों से क्रिया यदि शुभ रूप भी हो गई तो कर्मबन्ध अशुभ का होगा। यानी उससे अशुभ कर्मों का ही बन्ध होगा। क्योंकि कर्मबन्ध में क्रिया से भी बढ़कर भावों का महत्त्व है। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का उदाहरण सर्च लाइट की तरह स्पष्ट है। वे क्रिया से साधु थे, किन्तु भावों-अध्यवसायों से घोर हिंसा में लिप्त थे। इसलिए भगवान महावीर ने सम्राट श्रेणिक के पूछे जाने पर उस समय कालधर्म को प्राप्त होने पर सातवीं नरक में जाने का बताया था। इससे अधिक सुस्पष्ट और क्या उदाहरण हो सकता है। इसके विपरीत महाराज चेड़ा-चेटक जो युद्ध भूमि में लड़ते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए, वे देवगति में गए। युद्ध में यद्यपि हिंसा सामने दिख रही है, फिर भी चेड़ा महाराज का पक्ष नैतिक था और वे अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार ही युद्ध में प्रवृत्त हुए थे। उन्होंने युद्ध भूमि में भी पूरा संयम रखा था। वे मन से क्रूर हिंसा में प्रवृत्त नहीं हुए थे। अतः युद्ध करते हुए भी देवगति को प्राप्त हुए। इस संदर्भ में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का वृत्तांत भी समझने योग्य है। अन्त समय में ब्राह्मणों पर अत्यन्त रोषवश उनकी आंखें नहीं होते हुए भी उनकी आंखों को मर्दन करने का विचार व अनुभव करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो तमस्तमः प्रभा नरक में उत्पन्न हुआ। इससे यह तथ्य भली भांति विदित हो जाता है कि क्रिया के बजाए हमारे विचार, हमारे भाव, अध्यवसाय ही मुख्य होते हैं। वे ही कर्म बन्धन के कारक होते हैं। श्रीमदुत्तराध्ययन सूत्र में भी इसका सुन्दर विवरण मिलता है। 'कामे य पत्थेमाणा, अकामा जति दुग्गइं', काम-वासना की चाह करने वाला बिना भोगे भी दुर्गति में जाता है। जीर्ण सेठ का दृष्टान्त भी मननीय है, जो आहार दान की भावना मात्र से केवल-ज्ञान के समीप पहुंच गया था। अतः अपने विचार, भावों पर ध्यान प्रधानता से देय है।



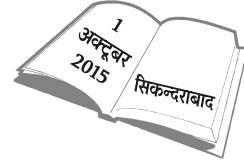


निश्चय और व्यवहार की समझ



निश्चय और व्यवहार में व्यक्ति कई बार चक्कर खा जाता है। किसे स्वीकार करे, किसे छोड़े। तत्त्वतः दोनों स्वीकार्य हैं, किन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के आधार पर। कभी निश्चय का प्राधान्य होता है, तो कभी व्यवहार का। यदि यों कहा जाए कि निश्चय स्व सापेक्ष होता है और व्यवहार पर सापेक्ष, तो यह कथन स्थूल दृष्टि से उचित है, क्योंकि स्व सापेक्ष में भी पूर्णतया व्यवहार अग्राह्य नहीं होता। स्व सापेक्ष क्रियाएं, स्व व्यवहार का रूप हैं। शरीर जड़ रूप है। इसमें आत्मा का व्ययदेश व्यवहार रूप है। जब तक इसमें आत्मा मौजूद है इसे एकान्ततः जड़ नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा कथन होगा तो सशरीरी आत्मा को पुद्गलमय मानना पड़ेगा। जो मान्य नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि जब शरीर को व्यवहार में सजीव माना जाता है तो आत्मा को शरीर संयोग से जड़-पुद्गलमय क्यों नहीं माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि शरीर आत्मा के द्वारा निर्मित है। आत्मा ने ही उसे स्वीकार किया है। इसलिए उसको सजीव कहा जाता है। पुद्गल के द्वारा स्वेच्छपूर्वक गृहित नहीं होती, अतः इसे पौद्गलिक नहीं माना जाता। कर्म भी जीव ही ग्रहण करता है। जीव के परिस्पंदन से ही कर्म (कर्मणवर्गणा) उस ओर आकर्षित होते हैं। कर्म जीव को आकर्षित नहीं करते। अतः शरीर को जीव युक्त होने से सजीव कहा जाता है। निश्चय में जीव ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, रूप, आत्म-गुण पर्यायों का ही कर्ता होता है। कर्मयुक्त जीव जिन पर्यायों को करता है, वे व्यावहारिक हैं, क्योंकि वे पर सापेक्ष हैं। यहां कर्मों को पर-सापेक्ष मानने में निश्चय की झलक है। माता-पिता, भाई-बहन आदि सारे रिश्ते व्यवहार हैं। यहां व्यवहार की प्रमुखता है। इनके साथ पारस्परिक व्यवहार होता है। उसे यदि न माना जाए तदनुसार न किया जाए तो व्यवहार के उच्छेद का प्रसंग बन जाएगा, जो कि अमान्य है। जो प्रत्यक्ष है उसे झुठलाया नहीं जा सकता। कब निश्चय को स्वीकार करें कब व्यवहार को, इसके लिए स्वाध्याय व अनुप्रेक्षा की निरन्तरता रहे तो स्पष्टावबोध हो सकता है। उसके अभाव में आस पुरुषों-गीतार्थों द्वारा कथित-प्ररूपित भावों के अनुसार ही वर्तन करना उपादेय होता है। उससे मन विभ्रान्त नहीं होगा।

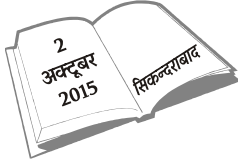




आत्मा का मरण नहीं होता। न ही आत्मा की पैदाइश होती है। आत्मा अजर-अमर है। आत्मा के मरण का तात्पर्य है, शरीर का सम्बन्ध टूट जाना। शरीर को साधने वाला होता है, प्राण। प्राणों को वियोजित कर देना ही आत्मा का मरण मान लिया जाता है। यथार्थ में न आत्मा ही मरती है, न ही शरीर। शरीर तो मृत ही था। वह तो पुद्गल रूप से ही था। जीव के द्वारा गृहित होने से उसे जीव रूप से माना जाने लगा। इसलिए जीव द्वारा उसे छोड़ देने पर उसका मरण माना जाता है। व्यावहारिक जगत में जो लोग शरीर और आत्मा को एकात्म रूप मान लेते हैं, उनके मतानुसार वह मरण सही है, किन्तु सैद्धान्तिक धरातल यह है कि जीव और शरीर को जोड़ने वाले जो प्राण हैं, उनका हट जाना मृत्यु है।

इसलिए हिंसा की परिभाषा करते हुए कहा है कि 'प्रमत्त योगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' अर्थात् प्रमत्त योग से प्राणों का हरण करना हिंसा है। जीव का हनन हिंसा नहीं कहा गया है। व्यवहार में जो जीव हिंसा की बात कही जाती है, वह दोनों में तादात्म्य भाव होने से कह दी जाती है। जीव भी शरीर को तद्रूप माने हुए होता है। यद्यपि यह उसका अज्ञान है, किन्तु यही अज्ञान उसे संसार में रोके रखता है। जब वह जान लेता है कि वह तन से भिन्न है, तब उसका शौर्य प्रकट होने लगता है। उसका सामर्थ्य उसे पौरुष जगाने के लिए उत्प्रेरित करता है। उस स्थिति में वह शरीर के छूटने पर किसी प्रकार से दुःखी नहीं होता। यदि शरीर उसे कहे कि अब मैं तुम्हें छोड़ने वाला हूँ तो वह उसे बड़े प्रेम से विदा करेगा। वह उसके विदाई की पूर्व तैयारी करके उसका उपकार मनाते हुए उसे विदा कर देता है। लेकिन जब तक देह भिन्न व जीव भिन्न का ज्ञान नहीं होता है, तब तक शरीर को ही वह 'स्व' मान लेता है। उसे लगता है कि शरीर और वह एक ही है। देह के रहने पर ही वह रह सकता है। देह चली गई तो उसका भी अस्तित्व नष्ट हो जायेगा। पर यह सोच अज्ञान मूलक है। इस सोच का परिवर्तन स्वात्म बोध से ही संभव है। उसके लिए निरन्तर अभ्यास जरूरी है।





प्रसन्नता का राज



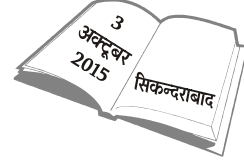
जब हम किसी के गुण दर्शन करते हैं, गुणों पर दृष्टि केन्द्रित करते हैं, तब हम स्वयं को गुणात्मक बनाते चले जाते हैं।

फूलों के बगीचे में फूलों को निरखते-निरखते व्यक्ति कितना तनाव मुक्त हो जाता है, अनुभव करने वाला बहुत आसानी से यह बात समझ सकता है। फूलों ने उसे क्या दिया? देखें तो कुछ भी तो नहीं, किन्तु फिर भी उसने उनसे बहुत पा लिया। जो पाया वह अकथनीय है। उसे कहा नहीं जा सकता कि उसने क्या पाया। परमात्मा की स्तुति करने से हम क्यों प्रसन्नता से भर जाते हैं? क्योंकि हमारी दृष्टि उस समय गुणात्मक होती है। वह उस समय तीव्रता से गुण ग्रहण करती है। उस समय उसमें नकारात्मक सोच, भाव नहीं होने से वह समग्रता से गुण ग्रहण करने वाली हो जाती है। परिणामस्वरूप हम प्रसन्न हो जाते हैं। हमें अनन्य समाधि अनुभूत होती है।

जैसे परमात्मा के गुणोत्कीर्तन से प्रसन्नता व्याप्त होती है, वैसे ही हम यदि प्रत्येक आत्मा के अन्तर में रहे हुए गुणों का दर्शन अहोभाव से करते रहें तो अनन्य-आनन्द का अनुभव कर सकते हैं। उन्हीं गुणों को यदि हमने मलीन भावों से, द्वेष या ईर्ष्या की दृष्टि से देखने का प्रयत्न किया तो वे गुण हमें उस रूप में नजर आ ही नहीं सकते। यद्यपि गुण वही के वही हैं, किन्तु हमारी दृष्टि में अन्तर होने से हम उन्हें उस रूप में देख पाने में समर्थ नहीं हो सकेंगे।

गुणों को देखने के लिए बिना लाग-लपेट की, तटस्थ दृष्टि होनी चाहिए। कोई अशुचि को देखकर नाक ढक लेता है, जबकि कोई अन्य उसी अशुचि में महकते हुए फूलों व फलों को देखता है। उसकी दृष्टि उसमें रही हुई उपजाऊ क्षमता पर जाती है। मधुमक्खी जब भी बैठती है, फूलों पर बैठती है। सामान्य मक्खी शरीर पर रहे घाव पर बैठती है। यह दृष्टि का ही अन्तर है। अतः यदि हम खुशहाल रहना चाहें तो हमें अपने देखने की नजर को ठीक करना चाहिए।



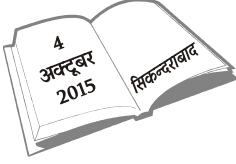


आत्म स्वरूप पर विचार करें तो प्रत्येक आत्मा शक्तियों का पुंज है। कोई भी आत्मा न किसी से कम है न अधिक। आत्मा के प्रदेशों से तो समानता है ही अन्यान्य गुणों में भी सब एक सी हैं। फर्क कर्म जन्य है। आत्मा के स्वभाव में कोई फर्क नहीं है। भव्य अभव्य जो अन्तर है, वह गुणों के प्रकटीकरण के सामर्थ्य-असामर्थ्य से है। भव्य अपने कर्मों को दूर कर सकता है, जबकि अभव्य उनको दूर नहीं कर पाता। जैसे एक ही मिल में बना हुआ एक समान वस्त्र अलग-अलग लोगों ने उपयोग में लिया। किसी ने उसे ज्यादा मैला कर लिया, किसी ने कम। मैल के कारण वस्त्र की कई कोटियां बन गईं। कोई थोड़ा मैला, कोई उससे कुछ ज्यादा मैला, कोई उससे भी ज्यादा मैला। मलिनता की ऐसी कई श्रेणियां बन गईं। इस पर कोई यह कहे कि कपड़ा भिन्न-भिन्न है तो उसका कथन किसी अपेक्षा से संगत भले ही लगे, किन्तु यथार्थ दृष्टि से वे वस्त्र एक रूप हैं। वस्त्रों में भिन्नता नहीं है। भिन्नता है मैल की। किसी पर मैल कम लगा है, किसी पर ज्यादा।

इसी प्रकार सभी आत्माएं एक-सी हैं। फर्क कर्मों का है। किसी ने कर्म मैल से स्वयं को ज्यादा ही मलीन बना लिया, तो किसी ने उससे कम व कम तर। यदि उस मैल को दूर कर दिया जाए तो आत्मा का मूल स्वरूप एक समान दृष्टिगत होने लगेगा।

कर्मों का कारण योग्य योगत्रय अर्थात् मन, वचन, काया की प्रवृत्ति है। योगत्रय से जो भी प्रक्रिया होती है, वह कर्मों का आदान करती है। उन कर्मों में हल्कापन व भारीपन कषाय, राग, द्वेष से होता है। मिर्च यदि ज्यादा डाली गई होगी तो सब्जी तीखी लगेगी। कम होगी तो फीकी लगेगी। वैसे ही कषाय तीव्र होंगे तो कर्म भारी होंगे। कषाय मंद होंगे तो कर्म भी हल्के-मंद रस वाले होंगे। इन कर्मों का परिष्करण समता-सहजता से होता है। जो राग-द्वेष उत्पन्न होने वाली स्थितियों में स्वयं को जितना सम-शान्त बनाए रखेगा वह उतना ही आत्मा के मैल को धोने में समर्थ बन पाता है। आत्मा का मूल्य उस पर लगे मैल से नहीं, अपितु उसके मूल स्वभाव से होना चाहिए।





प्रतिशोध के भाव भयंकर

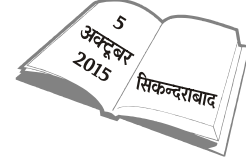
112

प्रतिशोध! हाँ, प्रतिशोध अत्यन्त घातक विचारधारा है। प्रतिशोध का अर्थ खोजना है, पर प्रतिशोध का अर्थ अपने विपक्षी को खोजना ही नहीं उससे बदला लेना है। जब तक वह उससे, अपने विरोधी, अपने विपक्षी से बदला न ले ले, तब तक उसका मन शान्त नहीं हो पाता। बदला लेने के बाद मन शान्त हो ही जाएगा यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। समरादित्य केवली की कथा को ध्यान में लें तो ज्ञात होगा कि अग्नि शर्मा नामक तपस्वी का प्रतिशोधी मन एक बार बदला ले लेने पर भी शान्त नहीं हुआ। अनेक भवों तक वह गुणसेन- (समरादित्य केवली का पूर्व भव का नाम) से बदला लेता रहा। प्रतिशोध की यह अकेली कथा नहीं है। हजारों कथाएं हमें मिल सकती हैं। प्रतिशोध के भाव जितने क्रूर होते हैं, उतना ही अधिक समय उनको शान्त होने में लगता है। कोई एकाध बार बदला लेकर अपने प्रतिशोध को शमित कर लेते हैं, तो कोई जन्म-जन्मान्तर तक उन भावों को पोषित करते रहते हैं। इससे सामने वाले की जितनी हानि नहीं होती उतनी हानि वह स्वयं की कर लेता है। उसके भीतर प्रतिशोध का दावानल सुलगता रहता है। यदि जीव नहीं संभले तो नरक-निगोदादि में जाना भी निश्चित है। प्रतिशोधी भावना को राक्षसी वृत्ति की उपमा भी दी जाती है। राक्षसी वृत्ति अपनी ही हानि विशेष रूप से करती है। रावण की राक्षसी वृत्ति ने वंश का ही नाश करा दिया। प्रतिशोध के क्षणों में आत्मा सम्यक विचार कर ही नहीं सकती। जैसे नशेड़ी को नशे के पहले जिन संस्कारों से भावित किया जाता है, नशे में वे ही उसे दिखते रहते हैं। यदि उसे हिंसा, मर्डर आदि के रूप में संस्कारित किया गया हो तो वह वैसा कार्य नशे में बहुत आसानी से कर सकता है, क्योंकि उसे बस, एक वही दिखता है। वैसे ही प्रतिशोधी को वही दिखता है जो उसे करना होता है। आतंकी हिंसा का यदि कारण ढूंढा जाए तो कहीं न कहीं प्रतिशोधी भाव ही उसके मूल में होगा। प्रतिशोध जीवन की नकारात्मक ऊर्जा है, जो सर्जन को नहीं विध्वंस को देखती है। उसी में वह नियोजित होती है। उसके विषय में ठीक ही कहा गया है -

प्रतिशोध के भाव भयंकर, होते हैं दुःखदाय। पतन आत्मा का हो जाता, मन दानव हो जाए जी ॥

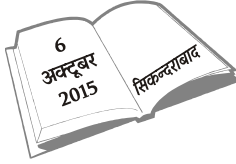
प्रतिशोध है राक्षस भारी, बचे बचाएं खास। पी-पी करके खून पराया, बुझे न उसकी प्यास जी ॥





जिसकी निगाहें धन पर टिकी होती हैं, उसका कोई आदर्श नहीं होता। उसका कोई सिद्धान्त नहीं होता। वह अधिकतर अवसरवादी होता है। उसको पलटने में कोई देर नहीं लगती। सत्य-सिद्धान्त उसके लिए मात्र किताबी होते हैं। वह मानता है कि ये सारी बातें कहने-सुनने की होती हैं। ये कही जाती हुई, सुनी जाती हुई ही सुखकर लगती हैं। जीने में नहीं। यदि उन बातों को जीया जाने लगे तो जीवन दूभर हो जाएगा, नीरस हो जाएगा। जीवन जीने का सारा आनन्द ही खत्म हो जाएगा। ऐसे लोग शायद यह मानते हैं कि जीवन का आनन्द धन ही है, किन्तु यह मान्यता सम्यक नहीं है। जो आनन्द सत्य में होता है, जो आनन्द शील और संयम में है, वह धन में न कभी था और न कभी हो ही सकेगा। यदि सत्य, संयम, शील के आनन्द को जानना हो तो राजा हरिश्चन्द्र से जानो कि उसका आनन्द कैसा होता है? सेठ सुदर्शन से पूछा जाए कि शील का आनन्द कैसा है। संयम के आनन्द को जानना हो तो खन्दक मुनि से, धर्म रुचि अणगार से जानकारी ली जाए कि संयम का आनन्द कैसा होता है। वह आनन्द अद्भुत होता है, किन्तु जब तक दृष्टि धन पर टिकी होगी, वह आनन्द नहीं आ पाएगा। मुंह में नमक की डली पड़ी हो, साथ ही मिश्री की डली भी मुंह में रख लें तो मिश्री का शुद्ध स्वाद नहीं आ सकता। मिश्री का शुद्ध स्वाद तब आ पाएगा जब नमक का अंश भी मुंह में नहीं रहे। शालिभद्र के पास धन अवश्य था, किन्तु उनकी दृष्टि धन पर टिकी हुई नहीं थी। वे पुण्यानुबन्धी पुण्य का भोग कर रहे थे। धन के प्रति उनको कोई लगाव नहीं था, यदि ऐसा कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी? उनका जीवन यह दर्शाता है कि वे धन में खोए हुए नहीं थे। वे धन का भोग जरूर कर रहे थे, पर उसमें डूबे हुए नहीं थे। धन के प्रति अनासक्ति का यह सशक्त उदाहरण है कि वे आज पहने हुए वस्त्राभूषणों को दूसरे दिन नहीं पहनते थे। सोलह रत्न कंबलें, जो बीस लाख स्वर्ण मुद्राओं में ली गईं वे भी एक दिन ओढ़ने के बाद फेंक दी गईं थीं। उनके दास-दासी आदि उनका उपयोग कर रहे थे। इससे स्पष्ट है कि वे धन का भोग तो कर रहे थे। पर उसमें डूबे हुए नहीं थे। धन से वे तृप्त थे। धन पर उनकी दृष्टि टिकी हुई नहीं थी।





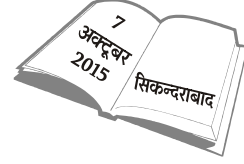
स्थान भ्रष्टा न शोभंते

114

केश (बाल), दांत, नख और मनुष्य, ये चारों अपने स्थान पर ही शोभित होते हैं। अपने स्थान से हटते होते ही ये श्री हीन हो जाते हैं। बाल और नखों को काट देने के बाद उनकी क्या दशा होती है, यह किसी से छिपी हुई नहीं है। वे ठोकें खाते रहते हैं। पैरों के नीचे रौंदे जाते हैं। ऐसी ही दशा मनुष्य की होती है। वह अपने स्थान पर, मर्यादा में जब तक रहता है, तभी तक उसका सौन्दर्य कायम रहता है। मर्यादा से स्खलित होते ही उसकी पहले वाली छवि नहीं रह पाती। रावण का पतन क्यों हुआ? शिशुपाल, दुर्योधनादि के अन्त का कारण भी उनकी अति या मर्यादा हीनता कही जा सकती है। राजाओं के राज चले गए। सेठों की सेठई चली गई। जैन समाज की साख पर भी बट्टा क्यों लग रहा है? क्या है इसका कारण? जैनियों ने जैन जीवन शैली को छोड़ा। उन्होंने अपनी सभ्यता और संस्कृति को छोड़ा। परिणामस्वरूप उनकी साख पर बट्टा लग रहा है। कई जैन मुनि, मुनित्व को खूंटी पर टांग रहे हैं, तो श्रावक अपने मद में ही चूर बन रहा है। वह धन-पद के मद में धर्म को भूल गया। यही कारण जैन धर्म को पतनोन्मुखी बनाए हुए है।

दूसरी दृष्टि से यदि विचार करें तो जब कोई मनुष्य अपने सिद्धान्त से हटता है, बार-बार बदलता है तो उस पर से लोगों का विश्वास ही उठ जाता है। विश्वास एक ऐसी चीज है, जिससे आदमी की पैठ जमती है। उसी के आधार पर उसकी पेठी चलती है। दल-बदल से उसकी विश्वसनीयता खत्म हो जाती है। भले ही ऊपर से लोग उसे सम्मान दे दें, लेकिन अन्तर में उसके प्रति वह श्रद्धा पैदा नहीं हो सकती। अन्तर से वह उनको सम्मान-बहुमान नहीं दे सकता। यदि धार्मिक जगत् की बात करें तो स्पष्ट है कि गोशालक, जमाली की क्या दशा बनी। स्व. श्री घासीलाल जी महाराज की क्या स्थिति बनी? ऐसे एक नहीं अनेक उदाहरण हैं। आदमी की 'आब' उतर जाए, फिर उसका मूल्य खत्म हो जाता है। एक कहावत है—'सेली से खळ ऊतरी, हुई बळी ने जोग' वैसे ही मनुष्य स्थान-मर्यादाच्युत हो जाता है तो उसकी आब समाप्त हो जाती है।





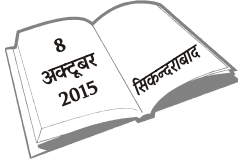
आगम का तात्पर्य होता है, जिससे मर्यादापूर्वक ज्ञान प्राप्त हो। गुरु जो ज्ञान देते हैं, वे भी आगम हैं। उन्हें भाव आगम कहा जाना चाहिए। द्रव्य आगम वे हैं जो कागज आदि पर लिखे हुए हैं। बोल-चाल की भाषा में कहें तो जो सद्ज्ञान का माध्यम है, उसे आगम कहते हैं। आगम शब्द का यदि निर्वचन किया जाए तो वह इस प्रकार होगा, 'आ'- आस पुरुषों द्वारा कथित 'ग' - गणधर भगवन्तों द्वारा ग्रन्थित एवं 'म' - मुनियों द्वारा आसेवित। यानी जो आस पुरुषों द्वारा उपदिष्ट हो, गणधरों द्वारा ग्रन्थित हो एवं मुनियों द्वारा आचरित हो, वह आगम है। आगम मात्र कोई आदर्श वस्तु नहीं है। वह आचरित है। आगम कोई आकाश से या अन्यत्र से स्वतः उत्पन्न नहीं है। वे आस पुरुषों द्वारा कथित और गणधरों द्वारा ग्रन्थित हैं। आस पुरुष उन्हें कहा जाता है, जिनके वचन विसंवाद अर्थात् पूर्वापर कथनों से परस्पर विरोध से रहित हो। गणधर वे होते हैं, जो तीर्थंकर भगवन् द्वारा कथित त्रिपदी, 'उप्येइ वा विगमेइ वा घुवेइ वा' को सुनने मात्र से चौदह पूर्वों के ज्ञानी हो जाते हैं अर्थात् तीन पद सुनने से ही उन्हें चौदह पूर्वों का ज्ञान प्रकट हो जाता है। मुनि उन्हें कहा जाता है, जो आत्म-ज्ञानी हों। आत्म ज्ञानियों ने जो आचरण अथवा उनके द्वारा जो आचरण किया जाता है, वह आगम है। यदि सारांश में कहें तो जिसकी सोच विवेकमय हो, हेय-ज्ञेय एवं उपादेय के ज्ञाता हों। जिसकी क्रिया यतना रूप हो। यतना यानी कोई भी कार्य हो, उसमें जीव की विराधना न हो। सत्य-अहिंसा समन्वित चर्या का नाम यतना है। ऐसे विवेक और यतना का स्वरूप जिसमें व्यक्त हो, वह आगम है। दूसरे शब्दों में आगम का सार, निचोड़, निष्कर्ष है कि - विवेक और यतना। यथा -

बत्तीसी का सार यही है, जैनागम दरम्यान।

यतना और विवेक का, रहे प्रतिपल ध्यान ॥

उक्तानुसार यदि यतना और विवेक का सम्यक आराधन हो तो आगम उससे अलग नहीं, ऐसा माना जाना चाहिए।





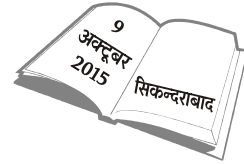
गुरु गुण कौन ग्रहण करे



एक प्रश्न है—विनयादि सर्वगुण सम्पन्न (शिष्यत्व के अनुरूप समग्र गुणों से युक्त) शिष्य क्या गुरु के गुणों को आत्मसात् करने में समर्थ होता है ?

उत्तर - एक काली मिट्टी होती है, दूसरी सफेद। सूर्य की किरणों को काली मिट्टी जितना ग्रहण करती है, सफेद नहीं करती। यदि करती भी है तो पुनः उनका उत्सर्जन कर देती है। इसी प्रकार काली मिट्टी और बालू दोनों मिट्टी के रूप में मिट्टी है, लेकिन काली मिट्टी पानी को जितना सोख पाती है, बालू उतना संग्रहण नहीं कर पाता। एक सामान्य कागज है, दूसरा स्याही चूस कागज है, स्याही चूस स्याही को जिस तरह सोख सकता है, सामान्य पेपर उस प्रकार से नहीं सोख पाता। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जिसमें संग्रहण शक्ति होती है, वही उसका संग्रहण कर पाता है। गुरु में रहे हुए गुणों को संग्रहण करने की क्षमता शिष्यत्व गुणों से सम्पन्न शिष्य में है, क्योंकि विनयादि गुणों से उसमें वह सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। नीति में कहा गया है कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' अर्थात् जो श्रद्धावान् होता है, वही ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ होता है। श्रद्धा के बिना वह ज्ञान को प्राप्त कर नहीं पाता। श्रद्धा, विनय में वह सामर्थ्य है कि वह ज्ञान को पा भी लेते हैं एवं उसे अपने में रमा भी लेते हैं। यानी ज्ञान तद्रूप बन जाता है या यों भी कह सकते हैं कि जैसे दूध में मिश्री डालने से वह मिश्री दूध को मीठा बना देती है, वैसे ही ज्ञानादि गुण विनयी शिष्य में माधुर्यादि रूप विशेष गुण प्रकट कर देते हैं। उनसे वह शिष्य भी गुरुता के गुणों से संभृत हो जाता है। अतः यह कह सकते हैं कि शिष्यत्व के गुणों से जो पूर्ण होता है, वह गुरु गत गुणों के संग्रहण का सामर्थ्य रखता है। वही उन गुणों से समृद्ध हो पाता है। शिष्यत्व के गुणों से रहित उन गुणों को पाने में समर्थ नहीं होता। कोई कितना भी विद्वान् बन सकता है, समुदाय का नेता भी बन सकता है किन्तु गुरु गुणों को वह प्राप्त नहीं कर पाता। उदाहरण के रूप में गोशालक मंखलि पुत्र व इन्द्रभूति गौतम को देखा जा सकता है।



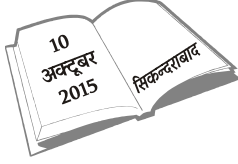


नक्शा जितना स्पष्ट होता है, मकान उतनी ही आसानी से खड़ा हो पाता है। हमारे भविष्य की नींव हम ही रखने वाले हैं। हम ही रखते हैं। जैसा हम चाहें, वैसा भविष्य रच सकते हैं। यदि हम बिना नक्शे के मकान खड़ा करना चाहें, तो शायद मकान कभी खड़ा ही न हो। मकान बनाने का अर्थ यह नहीं है कि ईंट पर ईंट रख दी और बन गया मकान। पर हाँ! ईंट रखने से ही मकान बनता है, यह भी सुस्पष्ट है। मूल्य ईंट पर ईंट रखने का नहीं है। मूल्य है ईंट पर ईंट को कैसे रखना।

हम कोई भी कार्य करें, यदि हमारे भीतर उसका नक्शा बना होता है तो उस कार्य को हम केवल सम्पन्न ही नहीं करते, बल्कि उसको बेहतर रूप भी दे पाते हैं। भविष्य भी मकान बनाने के समान है। उसके लिए पहले से ही हमें अपने भीतर एक आकार तैयार करना होता है। वह आकार उसी विषय पर चिन्तन करने से बनता है। आकार बनने में समय लगे तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए। अपितु आकार बनाने में पूरा समय दिया जाना चाहिए। जब उस आकार से संतुष्टि हो जाए, तभी उससे विरक्त हुआ जाए। जब तक अन्तर उससे पूर्ण संतुष्टि न हो जाए तब तक उस पर मेहनत करते रहना चाहिए।

किसान फसल पाने के पहले खेत को एक आकार देता है। बीज बोने के पहले भूमि को उसके योग्य बनाने में मेहनत करता है। वह परिश्रम व्यर्थ नहीं जा रही है। वह प्रयत्न उसी फसल का एक हिस्सा है। इसी प्रकार अपने भीतर आकार तैयार करना हमारे भविष्य का, हमारी सफलता का एक हिस्सा है। यदि मैं यह कह दूँ कि उसके बिना हम अपना मनचाहा महल नहीं खड़ा कर पाएँगे, तो मेरा यह कथन असंगत या अतिरंजित नहीं होगा। यदि हम भविष्य को सुखद रूप देना चाहते हैं, उसके लिए हमारे पास कोई परिकल्पना है तो उस पर आज से ही हमें कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। पर ध्यान रहे, परिकल्पना कोरी कल्पना न हो। वह शेखचिल्ली का रूप न हो। वह कल्पना प्रसव प्रधान हो। साकार रूप लेने की जिसमें क्षमता हो वैसी कल्पना कभी निरर्थक नहीं जाती।



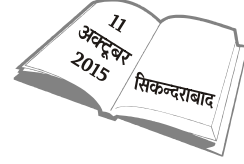


मुक्ति : युक्ति से नहीं भक्ति से



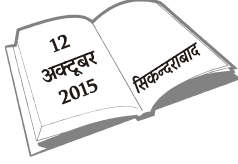
तुम अपने मन का समीक्षण करो कि वह कब उदास हो जाता है। कब वह गमगीन हो जाता है और कब उसमें हर्ष की स्फुरण होती है? उसमें आरोह-अवरोह होता है या वह अनुकूल-प्रतिकूल स्थितियों में एकरूप बना रहता है। अनुकूल-प्रतिकूल अवस्थाएं बहाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हैं। बहना अपौरुष है। एक लाश भी बह जाती है। बहाव में बहना अनुस्रोत है। अनुस्रोत संसार है। जब तक तुम्हारा मन अनुकुलताएं ढूँढता रहेगा, प्रतिकूलताओं से प्रभावित होता रहेगा, तब तक संसार से मुक्त होना नामुमकिन है। अनुस्रोत सदा नीचे की ओर होता है। उसमें बहने का मतलब है, अधोगामी होना। जो सदियों से ही नहीं, पिछले अनन्त जन्मों से हो रहा है। साधु की पोशाक पहनने मात्र से उसे रोका नहीं जा सकता। उसे तो साधुत्व के बल से ही रोका जा सकता है। प्रश्न होगा, साधुता क्या है? साधुता है प्रतिस्त्रोत गमन, प्रवाह से विपरीत मार्ग। ऊपर की ओर ले जाने वाला रास्ता। उस राह पर बढ़ने के लिए निंदा और प्रशंसा में एकरूप रहना होगा। यदि उसके लिए तुम्हारा मन तैयार नहीं है तो अनुस्रोत से बचाव संभव नहीं है। उत्कर्ष के लिए अनुकूलता-प्रतिकूलता से होने वाले प्रभाव से स्वयं को मुक्त रखना होगा। ध्यान रहे उत्कर्ष के लिए धन, जन, परिजन का त्याग ही पर्याप्त नहीं है, उसके लिए उससे भी बढ़कर अपने भीतर में पल रहे हर्ष, शोक, भय, ईर्ष्या, डाह को दूर हटाना होगा। अन्यथा धन, जन, परिजन का त्याग मात्र मजाक बनकर रह जाएगा। उनका त्याग तुम्हारे भीतर की आग को नहीं बुझा पाएगा। उनसे मुक्त हो जाने से ही मुक्ति होने वाली नहीं है। बाहर के बन्धनों से मुक्त होकर भी अन्तर के बन्धन ज्यों के त्यों बने रहे, अथवा साधुता के दम्भ से उन्हें और बढ़ावा मिल रहा हो तो समझ लेना, मन अभी मुक्ति के लिए तैयार नहीं है। मोक्ष युक्ति से नहीं भक्ति से संभव है। भक्ति तब होगी, जब तृप्ति मिल जाए। तृप्ति का अर्थ है, अपेक्षा नहीं होना। न प्रशंसा की चाह, न यश की, न गम है, न शोक। बस अपने में होना तृप्ति है।





तुम्हें यह देखना है कि तुम्हारी खुशी का राज तुम स्वयं हो या अन्य? यदि तुम्हारी खुशी किसी अन्य पर आधारित है तो समझ लो कि तुम ज्यादा लम्बे समय तक खुश नहीं रह सकते। तुम्हारी खुशी का राज अन्य कोई वस्तु या व्यक्ति नहीं, तुम स्वयं हो तो तुम्हारी वह खुशी तुमसे कोई छीन नहीं सकता। तुम्हारी खुशी का कारण मात्र तुम ही हो सकते हो, दूसरा कोई भी नहीं। दूसरा तुम्हें खुशी कैसे दे सकता है? जो दूसरों से प्राप्त होगी, वह तुम्हारी कैसे होगी? दूसरों से प्राप्त खुशी वस्तुतः खुशी नहीं होगी। वह थोड़े समय के लिए तुम्हें वैसा आभास कराने वाली होगी और उसके लिए तुम्हें कितना मूल्य चुकाना पड़ेगा? बिना मूल्य के वह प्राप्त होने वाली नहीं है। भारत को यदि कोई अन्य राष्ट्र खुशहाल देखना चाहता है तो उसका, उसके पीछे कोई स्वार्थ होगा। वह यदि भारी-भरकम सहायता भी दे रहा है तो वह भी अपना असर रखती है। भारत को अन्तर से वह अपनी ओर आकर्षित कर रहा होता है। भारत उसका एहसानमंद बना रहेगा। यह एक प्रकार का मानसिक दबाव होगा। जिसका अहसास समय-समय पर भारतवासी करते रहेंगे। वैसे ही यदि दूसरे से तुम्हें खुशहाली मिल रही है तो वह तुम पर एक दबाव का रूप है। उसकी अनुभूति आज हो पाए या न हो पाए, किन्तु एक समय आएगा जब वह अनुभव करा देगी। तुम्हारी अपनी खुशी देश, काल से प्रतिबंधित नहीं होगी। वह सावधि नहीं होगी। वह तुम्हारी अपनी होगी। उठते-बैठते, सोते-जागते जब भी देखो वह तुम्हारे साथ होगी, क्योंकि वह तुम्हारी है। ऐसी खुशी के लिए तुम्हें अन्य लोगों से स्वयं को अलग करना होगा। वे जिस राह पर चल रहे होते हैं, तुम उस राह पर नहीं बढ़ोगे, यह तुम्हें निश्चय कर लेना होगा। उनकी राह अल्पकालीन खुशी की है। जो कभी मिलती है, कभी छीन ली जाती है। तुम चूंकि अपनी खुशी के राही हो, सदाबहार खुशी के यायावार हो, अतः तुम अपने दोहरे मापदण्डों को दूर करो। तुम बनने के बजाए होने पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित करो। तुम्हें कोई बनाने का प्रयत्न भी करे तो तुम बनो मत, केवल रहो। तुम्हारी उपस्थिति, मौजूदगी ही तुम्हारी खुशी का राज है।



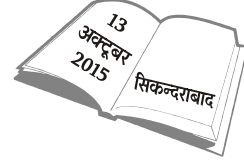


जिम्मेदार बनें



जिम्मेदार व्यक्ति जिम्मेदारी का निर्वाह कर पाते हैं, यह बात जितनी संगत है, उतनी ही संगत बात यह भी है कि जिम्मेदारी की जोखिम उठाने में जो तत्पर होते हैं, वे ही जिम्मेदार होते हैं। इसे थोड़ा समझें। सृष्टि में जितने लोग जिम्मेदार हैं, उतने ही रहेंगे, उनके अवसान होने पर एक दिन जिम्मेदारों का अभाव हो जाएगा, ऐसी बात नहीं है। जिम्मेदारी एक क्रिया है। उसका जो भी अभ्यास करे, वह जिम्मेदार बन सकता है। जिम्मेदारी से डरते रहने वाला, सदा उससे बचाव करता रहता है। वह जिम्मेदारी के नाम से घबराने लगता है। कोई उस पर जिम्मेदारी लाद दे तो उसके हाथ-पांव फूलने लगते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए हम कह सकते हैं कि यह कभी जिम्मेदार नहीं बनेगा, किन्तु बात ऐसी नहीं है। जिम्मेदारी से भागने वाला तभी तक जिम्मेदारी से डरता है, जब तक उसका उससे मुकाबला नहीं हो जाए। एक बार यदि जिम्मेदारी का स्वाद चख ले तो उपर्युक्त स्वभाव वाला व्यक्ति भी जिम्मेदार बन सकता है। जिम्मेदारी के लिए अपने भीतर कुछ बदलाव लाना जरूरी होता है। अल्हड़ मिजाज लड़की जब ससुराल जाती है तो जिम्मेदार बहू बन जाती है। इसलिए क्योंकि वह जिम्मेदारी का अहसास करने लगती है। वह यह समझ लेती है, जान जाती है कि अब वह पीहर में रहने वाली लड़की नहीं, किसी नए घर की बहू है। इस प्रकार से मानसिक परिवर्तन उसे जिम्मेदार बना देता है। जिम्मेदार बनने के लिए यह भी जरूरी है कि वह जिम्मेदारियों को स्वीकार करे व उन्हें पूरा करने का भरसक प्रयत्न करे। उसे चाहिए कि वह महसूस करे कि वह जिम्मेदार है। यदि कभी जिम्मेदारी पूर्ण न हो सके तो उससे विचलित न हो और न ही उसके लिए कोई बनावटी स्पष्टीकरण ही दे। अपितु सहज रूप में स्वीकार करे कि मेरी गलती हुई। ऐसा करने से भविष्य में वह जिम्मेदारी से सहसा भटकेगी नहीं। गैर जिम्मेदाराना बयान उसे बार-बार गैर जिम्मेदार ठहराएगा। अतः उससे सदा बचना चाहिए। यदि हम स्वयं को पावरफुल बनाना चाहते हैं तो बड़ी-बड़ी जिम्मेदारियां स्वीकार करें एवं उन्हें पूर्ण करने के तरीकों पर तत्काल काम शुरू कर दें।

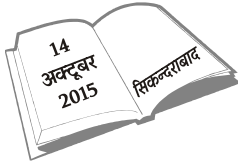




पिछली रात्रि को नित्य-नियम करते हुए एक सूत्र उभरने के साथ ही प्रेरणा मिली कि 'निर्विष बनो।' सूत्र की अनेक बार आवृत्ति करने पर जो समाधि भाव प्रकट हुआ, वह अद्भुत था। काफी समय के पश्चात् उस प्रकार का आनन्द प्राप्त हुआ था। वात्सल्य से हृदय परिपूरित लग रहा था। शत्रुता, वैर, विरोध की कहीं दूर तक भी छाया नहीं थी। हृदय अत्यन्त मृदुल था। चूंकि समय प्रतिक्रमण के निकट का हो गया था, अतः प्रतिक्रमण में लगा। उसमें अपूर्व शांति का अनुभव हो रहा था। स्वयं को विष रहित कैसे बनाया जाए? विष क्या है? इस संदर्भ में अनुप्रेक्षा बनी कि क्रोधादि दोष ही विष है। भयादि की उपस्थिति ही विष है। संशयादि के भाव ही विष हैं। असुरक्षा के भाव ही विष हैं। यों कह दें कि आत्म परिणति के विपरीत सारे भाव विष हैं, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। दूसरों के कारण या स्वयं से, अपने विष को बढ़ने मत दो। संसार के सारे प्राणी कर्माधीन हैं। कोई न कोई पूर्व संयोग कहीं रहा होगा? किसी जन्म में किसी का अहित तुम्हारे कारण हो गया होगा। उसी से प्रतिकूलता उपस्थित हो तो उस समय स्वयं को विष रहित रखना। तुम यदि स्वयं को विष रहित बनाए रहोगे तो बाह्य-विष का असर तुम पर हो नहीं पाएगा। जब भी अवसर हो निर्विष की साधना में लगे। सब पर वात्सल्य बरसाते रहो। किसी के प्रति कोई शत्रुता के भाव पैदा न हों। किसी के प्रति राग की परिणति न हो। तटस्थ वृत्ति का भाव बढ़े, ऐसा प्रयत्न हो। किसी के प्रति अशुभ भाव भी पैदा न हो। यदि कभी क्षणिक स्फुरण भी हो जाए तो तत्काल उसका शोधन करो। उसकी जड़ जमें नहीं, उसके प्रति सावधान रहो। सावधानी से ही निर्विष भावों की रक्षा की जा सकती है। जब भी विषैली लता पनपने लगे तो नित्य-नियम के उभरे सूत्र से उसे निर्मूल करो। वह सूत्र ही उसका सही उपाय है। वह स्वतः उभरा है। उसे औषध समझो। पूरे विश्वास के साथ उसका उपयोग करो। निरन्तर अभ्यास करते रहना भी जरूरी है। अपने अन्तर में गुनगुनाओ

शुभ-सूत्र साधना का पाया, विष रहित बनो, विषरहित बनो।





समाधि का अवतरण

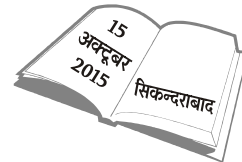
122

समाधि का स्रोत कभी भी फूटेगा तो वह तुम्हारे भीतर से ही। वह किन्हीं भी बाह्य साधनों से प्राप्त होने वाला नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि जब वह हमारे भीतर से ही प्रकट होने वाला है तो इसका मतलब है कि वह हमारे भीतर है। जब वह हमारे भीतर है तो उसकी अनुभूति हमें क्यों नहीं हो पाती? इसका समाधान यह है कि हमारे घर में भी ऐसी कई वस्तुएं हो सकती हैं, जिन्हें हमने कभी न देखा हो।

उदाहरण के रूप में गोलकुण्डा के उस भूखण्ड को लिया जा सकता है, जो कभी एक गरीब किसान के अधीन था, पर उसे पता नहीं था कि उसमें हीरों का भण्डार है। उसने उसे बेच दिया। बाद में ज्ञात हुआ कि उसमें हीरों का भण्डार है। वैसे ही हमारे भीतर समाधि होते हुए भी उसको जानने-पहचानने की दृष्टि हमारे पास नहीं हो तो हम उसे कैसे देख पाएंगे। लोकाशाह के घर में उनके पिता के समय का एक रत्न पड़ा था। जिसे पहले वे भी रत्न ही समझ रहे थे, किन्तु जब उनको पारखी निगाह मिली तब उन्होंने उसे फेंक दिया, क्योंकि वह रत्न नहीं कांच का टुकड़ा था। इसके विपरीत एक किसान का लड़का रत्नों को पत्थर समझकर गुलेल में उन्हें लगा-लगाकर पक्षियों को उड़ता रहा, जब केवल एक रत्न पास में रह गया तब उसे ज्ञात हुआ कि जिन्हें वह पत्थर समझ रहा था, वे पत्थर नहीं रत्न थे।

बस हमारी दशा भी ठीक वैसी ही है, जिससे हम हमारे भीतर की निधि को भी देख नहीं पाते। प्रश्न होगा कि आखिर उसे कैसे देखा जा सकता है? उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि पानी यदि स्थिर होता है तो व्यक्ति की छवि उसमें प्रतिबिम्बित हो जाती है, लेकिन यदि पानी चपल हो, हिल रहा हो तो व्यक्ति का प्रतिबिम्ब उसमें झलक नहीं पाता। वैसे ही जब तक हमारा मन चंचल, चपल बना रहेगा, तब तक उसमें समाधि की झलक, समाधि का स्रोत हमें परिलक्षित नहीं होगा। हम उसका अनुभव भी नहीं कर पाएंगे। जब मन से आशा, आकांक्षा, तृष्णा के दूषित भाव दूर होंगे, तब मन की ऊहापोह शान्त होगी। जैसे ही मानसिक ऊहापोह शान्त हो जाएगी, अगले ही क्षण समाधि का अवतरण उसका प्रादुर्भाव हो जाएगा।



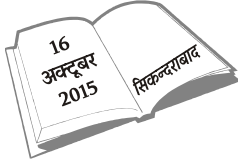


संघ मेरा है। संघ के लिए मुझे कार्य करना है। संघ के सभी सदस्यों की योग्यता एक समान नहीं होती। कोई ईंट उठाने वाला होता है तो कोई ईंट को व्यवस्थित करने में माहिर होता है। संघ में दोनों प्रकार सदस्यों की जरूरत होती है। संघ, समुदाय एक परिवार का रूप है। परिवार में जो जिस योग्यता वाला होता है, वह वैसा कार्य संभालता है। संघ में भी ऐसा होना चाहिए, पर इसका अपवाद भी है। कभी यदि अन्य सहयोगी नहीं हो तो किसी भी कार्य के लिए संघ सदस्यों को तैयार रहना चाहिए। यदि जूठी थालियां या जूते भी उठाने पड़े तो कोई संकोच नहीं होना चाहिए। यदि कोई यह सोच ले कि मैं तो अमुक कार्य ही करूंगा, अन्य कार्य को हाथ भी नहीं लगाऊंगा, तो यह सोच परिवार में समन्वयात्मक वातावरण बनाए रख सके, यह कठिन है।

इसी प्रकार संघ सदस्यों की भी सोच होनी चाहिए। संघ सेवा का कोई भी कार्य छोटा नहीं है। किसी भी कार्य से मन को छोटा नहीं होने देना चाहिए। मन यदि छोटा बन रहा हो तो समझना चाहिए कि कहीं न कहीं मन का कोई कोना उत्कर्ष प्रधान है। उसमें आत्मगौरव का भाव बना हुआ है। उसके रहने से ही मन को लगता है कि उसे छोटा काम मिला है। इससे उसकी गुरुता को चोट पहुंचती है। वह चोट कोई सह पाता है, कोई सहने में समर्थ नहीं होता। परिणामस्वरूप उसका अन्तर आन्दोलित हो उठता है। उसका अन्तर शान्त नहीं हो पाता, समाहित नहीं हो पाता। उसके भीतर हीन भावना के साथ विद्रोही भावना भी बन जाती है। ऐसा होने पर जो संघ भक्ति होनी चाहिए, वह नहीं हो पाएगी।

अतः संघ सेवा के प्रति भावों को प्रशस्त, निर्मल बनाए रखना चाहिए। पवित्र भावों से की जाने वाली सेवा ही संघ भक्ति का सम्यक रूप बन सकता है। ऐसी भक्ति ही निर्जरा का हेतु बन पाती है। साथ ही आत्म-समाधि का हेतु भी। अहंकार, गौरव का भाव होता है तो उससे चुभन पैदा होती है। उन भावों के हटते ही या नहीं रहने से चुभन होने का कोई कारण ही नहीं रह जाएगा। अतः संघ-सेवा अपनत्व एवं पवित्र भावों से की जाए।





संयम मे श्रम करें



संयम मे जब श्रम, पराक्रम, पुरुषार्थ जगता है, तब उसमें चमक पैदा होती है। स्वर्ण, स्वर्ण ही होता है, फिर भी आग में तपने पर उसकी चमक बढ़ती ही है। उसे कुन्दन की संज्ञा दी जाती है। श्रीमत्स्थानांग सूत्र में संयम ग्रहण करने वालों के संदर्भ में चार भंग बताये हैं। यथा -

सिंह की तरह लेना, सिंह की तरह पालना

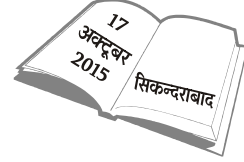
सिंह की तरह लेना, सियारवत् पालना

सियार की तरह लेना, सिंहवत् पालना

सियार की तरह ही लेना व वैसा ही पालना।

इसमें सर्वश्रेष्ठ भंग प्रथम है। दूसरा भंग अपकर्ष को ध्वनित करता है। तीसरा भंग अपकर्ष से उत्कर्ष को सूचित करता है। चौथा भंग न अपकर्ष का सूचक है और न उत्कर्ष का ही। बस जीना है, जी रहे हैं। महत्त्वपूर्ण यह है कि उसे कैसे जिया जा रहा है। प्रथम और तृतीय भंग पुरुषार्थ के प्रतीक हैं। इनमें जीवन्तता रही हुई है। ये जीवन में रहे हुए उन तथ्यों से साक्षात्कार करवाने वाले हैं, जिनसे हम अब तक अनभिज्ञ रहे हैं। जो कभी ए. सी. रूम में प्रविष्ट ही नहीं हुआ हो वह भला उसकी ठण्डक को क्या जान पाएगा? वह उसकी कल्पना भी नहीं कर सकता। उसकी कल्पना के लिए कोई आधार भी नहीं है। वैसे ही जो संयम रूपी रूम से प्रविष्ट होने का उपक्रम करता है, वह जब उसमें घुसता है, तब वह उसका अनुभव कर सकता है। यद्यपि द्वितीय व चतुर्थ भंग के स्वामी भी कुछ अनुभव कर सकते हैं, किन्तु जो मेहनत, परिश्रम से प्राप्त होता है, उसकी मिठास कुछ और ही होती है। संयम स्वयं पराक्रम है। बिना उद्यम के उसे पाया भी नहीं जा सकता, किन्तु उसमें प्रविष्ट होने के बाद कदम रुक नहीं जाने चाहिए। उनमें निरन्तर गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। मंजिल ठहरने से नहीं चलने से मिलती है। यह बात प्रथम व तृतीय भंग के स्वामी ही अनुभव कर सकते हैं और वे ही मंजिल पा सकते हैं। अतः संयम उपवन में प्रविष्ट हो एवं मंजिल न मिले, तब तक पुरुषार्थ किया जाता रहे।



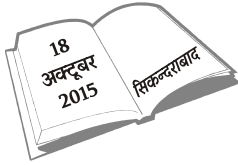


क्या करूं, क्या न करूं, इस प्रकार का प्रत्यय किंकर्तव्यविमूढ़ता का परिचायक है। उक्त अवस्था स्वभावगत भी हो सकती है अथवा कभी अकस्मात् मस्तिष्क पर प्रेशर आने से भी बन जाती है। उक्त अवस्था में व्यक्ति किसी निर्णय पर स्वयं को स्थिर नहीं कर पाता। अस्थिर विचारों से डोलायमान स्थिति बनी रहती है। अनिर्णीत विषय बार-बार उसके समक्ष उभरता रहता है। वह उसी पर सोचता रहता है और सोच-सोच कर स्वयं झुंझला जाता है। वह निर्णायक स्थिति तक नहीं पहुंच पाता। परिणामस्वरूप उसे स्वयं पर चिढ़ होने लगती है। यह दशा लम्बे समय तक चलती रहे तो व्यक्ति आत्मविश्वास खो बैठता है। उस समय छोटी से छोटी बात का भी वह निर्णय नहीं कर पाता।

उसे भय बना रहता है कि कहीं मेरा निर्णय हानिकर न हो जाए। ऐसे व्यक्तियों को यदि सच्चा सलाहकार मिल जाए तो वे उस पर विश्वास करने लगते हैं। सलाहकार चाहे तो उसे उस स्थिति से उबार सकता है। वह अपने विश्वास के बल पर उससे निर्णय करवाता हुआ उसके खोए हुए आत्मविश्वास को प्रकट करा सकता है। उसके द्वारा किया गया निर्णय यदि एकदम सही हुआ, उसका परिणाम सम्यक आया, तो उसे अपार खुशी होती है। उसी से उसके अन्तर में प्रेरणा व विश्वास जागृत हो पाता है कि वह भी निर्णय कर सकता है एवं उसका निर्णय भी सम्यक परिणाम देने वाला होता है।

इस प्रकार वह किंकर्तव्यविमूढ़ता से बाहर निकल सकता है। यद्यपि यह बात मुख्य रूप से उस व्यक्ति के लिए लागू होती है, जो दबाव के कारण किंकर्तव्यविमूढ़ बना हो। जो स्वभावगत किंकर्तव्यविमूढ़ होता है, उसके लिए भी यह बात लागू तो हो सकती है, किन्तु उसके लिए प्रयत्न विशेष रूप से आवश्यक होगा। अल्प प्रयत्न से उसमें सफलता मिल सके, इसकी संभावनाएं कम हैं। पर हाँ, यदि कोई कमर कसकर भरपूर मेहनत करे तो सुखद फल मिलने की पूरी संभावना है।





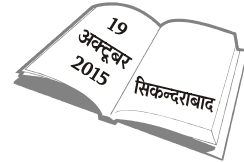
देखो! बहार लुट न जाए 126

बाहर से हम जिसे भी अन्दर प्रविष्ट करा रहे होते हैं, मानो अशान्ति एवं दुःख को प्रविष्ट करा रहे हैं। यह बात हमारी समझ में आए या न आए, किन्तु यथार्थ यही है। हम चाहे अनुकूल को स्वीकार करें या प्रतिकूल को, उससे अशांति पैदा होनी ही है। भले ही वह तत्काल अनुभूत न हो। बबूल का बीज आज जमीन में डाला है तो आज ही उसके कांटे नहीं चुभेंगे, किन्तु एक दिन तो ऐसा आ ही जाता है कि उसके कांटे चुभने लगते हैं। कांटे चुभते हैं तब उसे अहसास होता है कि उसके कांटे चुभ रहे हैं।

वैसे ही आज हम जिसे प्रवेश करा रहे होते हैं, हो सकता है वह आज सुखद लगे, लेकिन हकीकत यह है कि कोई भी बाह्य पदार्थ सुखद नहीं हो सकता। जिसमें चक्रवर्ती बनने का सामर्थ्य हो, क्या उसे दो-चार गांव मिल जाना सुखकर होगा? अनन्त-अनन्त सुख की स्वामिनी हमारी आत्मा को मात्र कुछ धन-सम्पदा-ऐश्वर्य देकर उसी में भुलाए रखना सुखकर कैसे कहा जा सकता है। बाहर से जो आता होता है, वह अन्ततोगत्वा हमारा नहीं होता। वह पराया ही होता है। दूसरे से आशा रखना जैसे दुःखप्रद है, वैसे ही पर में सुखानुभूति करना भी दुःख रूप ही है। उसे सुख रूप नहीं माना जा सकता।

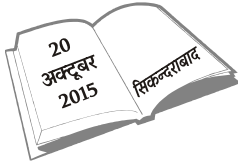
प्रश्न होगा कि ऐसा क्या उपाय किया जाए, जिससे बाह्य चीजें अन्तर में प्रविष्ट न हो सकें। पदार्थों को विनष्ट नहीं किया जा सकता। जहां हम रहेंगे, वहां वे भी रहेंगे। जितना अधिकार हमारा है, उतना अधिकार उनका भी है। हम उन्हें जानें, किन्तु स्वीकार नहीं करें। उनको अपनी तरफ आकृष्ट नहीं होने दें। उसका उपाय यह है कि हम उनकी तरफ आकर्षित न हों। हम उनको महत्त्व देंगे तो वे निश्चित ही मूल्यवान बन जाएंगे। हम अपने को ही मूल्य दें, पर को नहीं। पर के साथ, पर जैसा ही व्यवहार हो। अन्तर उससे निर्लिप्त रहे। उसे अपना समझने की भूल नहीं करें। यदि ऐसा होगा तो कोई शक्ति हमें दुःखी नहीं कर सकती। जब हम अपने से बाहर होते हैं तो हमारी बहार लुट जाती है। पर सावधान! देखो, बहार लुट न जाए।





तुम्हारी वीतरागता तुम्हीं से बाधित है। वीतरागता तुम्हारा लक्ष्य है। तुम्हारा स्वभाव है। वह विकारों से अशुद्ध बना हुआ है। वीतरागता में तुम्हारी वृत्तियां बाधक बनी हुई हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आध्यात्मिक दोष हैं। इन्हीं दोषों के तले वीतरागता दबी हुई है। उसके कारण वीतरागता राग-द्वेष में परिणत हो रही है। शुद्धोदक (वर्षा का जल) जमीन पर गिरता है। मिट्टी आदि के मिश्रण से अशुद्ध हो जाता है। उसका रूप ही विलीन हो जाता है। उसकी पहचान भी कठिन हो जाती है कि यह वही शुद्धोदक है। इसी प्रकार तुम्हारी वीतरागता का रूप भी क्रोधादि के मिश्रण से विकृत हो गया है। उन विकारी तत्त्वों को दूर करो, उनका वमन करो। शरीर में विकारी तत्त्व बढ़ जाने पर यदि वमन हो जाता है तो देह में काफी हल्कापन महसूस होता है। वैसे ही आध्यात्म दोषों, विकारों का वमन करने पर आत्मा हल्केपन का अनुभव कर सकती है। उनका वमन किए बिना तुम अपने शुद्ध स्वरूप को कभी नहीं पा सकोगे। अब तक जिन्होंने भी उस वीतरागता का अनुभव किया है, उन्होंने आध्यात्म दोषों का वमन किया, तब ही उसके अनुभव पाए। शुद्धोदक एवं अशुद्धोदक दोनों को तुमने देखा है। अशुद्धोदक को फिटकरी आदि रासायनिक पदार्थों से शुद्ध किया जा सकता है, यह भी तुमने अनुभव किया है। इससे स्पष्ट है कि मूल वस्तु में आए हुए दोषों को निराकृत किया जा सकता है। यह बात अलग है कि प्यासा व्यक्ति अशुद्धोदक को भी पी लेता है अथवा जो फिल्टर करना नहीं जानता वह वैसा पानी पीता रहे, किन्तु जो शुद्धिकरण करना जानता है, यदि उसके पास साधन हो एवं वह प्रमाद भी न करता हो तो वह अशुद्ध जल का सेवन क्यों करेगा। ठीक उसी तरह क्या तुम अशुद्धता में ही जीते रहोगे, विकारी अवस्था में मग्न बने रहोगे या अपने स्वभाव को पाने के लिए, उसे फिल्टर करने के लिए उद्यमशील बनोगे? निश्चित ही तुम्हें प्रयत्नशील बनना चाहिए। यदि कभी ऐसे ही वमन न होता हो तो वैद्य से औषधि लेकर वमन किया जाता है, वैसे ही भगवान की औषधि लेते हुए आध्यात्मिक दोषों, विकारों का वमन करके स्वयं को शुद्ध-विशुद्ध और परिशुद्ध बनाने का प्रयत्न करें।



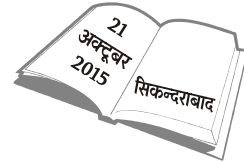


काँच के गिलास जैसी है साख



साख, काँच की गिलास की तरह होती है। जब तक वह गिलास विधिवत् आलमारी में सजी रहती है, हाथों से हाथों में आती जाती है, उपयोग में आती रहती है, तब तक उसमें चमक बनी रहती है, किन्तु यदि हाथ से, ऊपर से गिर जाए तो उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। साख की स्थिति भी ऐसी ही है। उसको बनाए रखने के लिए बड़ा यत्न करना पड़ता है। काँच की गिलास को उठाते-रखते बड़ी सावधानी रखनी होती है। थोड़ी-सी चूक हो जाए तो जैसे गिलास के टुकड़े हो जाते हैं, वैसे ही साख के टूटते देर नहीं लगती। आदमी को कोई एक बार गलत कार्य करते हुए देख ले तो उसके दिल से उसकी साख खत्म हो जाती है। एक बार कोई हाथ ऊंचा कर दे (दिवाला निकाल दे), उसकी साख खत्म। साख को जमाए-बनाए रखने के लिए कितने प्रयत्न करने होते हैं पर उसके जाने में देर नहीं लगती। दूसरी दृष्टि से यदि विचार करें तो साख जीवन की आब है। उसे बनाए रखने के लिए मानवीय मूल्यों पर आधारित जीवन शैली का होना आवश्यक है। मानवीय मूल्यों का जीवन व्यवहार से जैसे ही क्षरण होने लगता है, व्यक्ति की आब, उसकी साख धूमिल पड़ जाती है। साख को रखने के लिए दो-चार या पाँच या दस वर्ष की ही साधना पर्याप्त नहीं है, उसके लिए जीवन पर्यन्त साधनाशील रहना जरूरी है। उससे आगे बढ़कर यदि बात कही जाए तो उसके लिए जीवन के हर क्षण, हर पल में सजग, सावधान रहना जरूरी है। अन्यथा थोड़ी-सी गफलत जीवन भर की गाढ़ी कमाई को धूल-धूसरित करने वाली बन जाती है। इस दृष्टि से विचार करें तो जीवन और साख को एक रूप माना जाना चाहिए। कहा जा सकता है कि बिना साख के भी तो लोग जीते ही हैं? फिर उन्हें क्या समझना? वे जी जरूर रहे हैं, किन्तु उनके जीवन का वह मूल्य नहीं रहता, जो साख व आब वाले जीवन का होता है। बिना आब के भी मोती होते तो हैं ही, किन्तु जौहरी उनको ग्रहण नहीं करता। वे फेंक देने योग्य होते हैं, त्याज्य होते हैं। उनका रहना कोई रहना नहीं होता। वे बस रह रहे होते हैं, रह रहे हैं। मौलिक अस्तित्व साख का है, जो मानवीय मूल्यों से बनती है, रहती है।



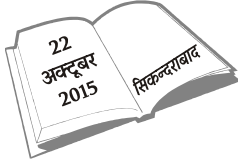


ओछी वृत्ति वाले लोग ऐश्वर्य सम्पन्न भी हो जाएं, तब भी अपनी वृत्ति के कारण वे तज्जन्य भोगोपभोग का लाभ उठा नहीं सकते। उदारता क्या होती है, उसका स्वाद कैसा होता है? इसका अनुभव वे जीवन पर्यन्त नहीं कर पाते। वे जानते ही नहीं कि उदारता होती कैसी है? यदि वे कभी उदार हो जाएं या उनकी उदारता नजर आने लगे तो समझ आता है कि कोई न कोई गहरा स्वार्थ उसके पीछे अवश्य होगा। वह वस्तुतः उदार नहीं बना है, बल्कि अधिक पाने की चाह में कुछ छोड़ने के लिए बाध्य हुआ है, उसे होना पड़ा है। यदि उस स्वार्थ की पूर्ति न हो तो उसकी वह उदारता कितने समय तक टिकी रहती है, यह देखने की बात है। वस्तुतः उदार चित्त वाले जो आनन्द पाते हैं, वह आनन्द ओछी वृत्ति से कभी नहीं मिल सकता। उदारता में व्यक्ति की सम्पन्नता या विपन्नता हेतु नहीं होती। वह सहज होती है। कई विपन्न व्यक्ति भी उदार दृष्टिगत होते हैं। उनको लक्ष्मी का वरदान मिला होता तो शायद वे पूरी दुनिया का उद्धार कर देते। नीतिकारों ने कितनी सुन्दर बात कही है -

‘उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्’

उदार चित्त वालों के लिए पूरा विश्व ही कुटुम्ब है। उनका परिवार, कुटुम्ब चारदीवारी के भीतर बंधा हुआ नहीं होता। उनके उदात्त भावों को सीमा में बांध पाना अशक्य है। वे विश्व रूप कुटुम्ब के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार रहते हैं। ओछी वृत्ति वालों की तो ऐसा सुनकर ही छाती फट जाती है। अगर नहीं भी फटे तो बैठ जरूर जाती है। ओछी वृत्ति से कभी विशालता का अनुभव नहीं किया जा सकता। क्या किसी मकान की छत आसमान का आनन्द पा सकती है। वह चार दीवारों पर, स्तम्भों पर टिकी रहती है। जो स्वयं दूसरों पर आधारित रहती है, वह कभी विशालता का वैभव कैसे पा सकती है। आसमान को टिकने के लिए किसी स्तम्भ या दीवार की जरूरत नहीं होती। वह स्वयं से स्वयं है। किसी अन्य के होने पर नहीं। इसी प्रकार उदात्त भाव वाले व्यक्ति, स्वयं से स्वयं होते हैं। उन्हें किसी आधार की आवश्यकता नहीं होती।



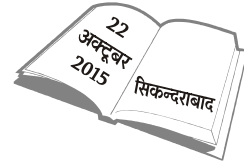


निमित्तों को दीर्घाकार मत दो



हम सामान्य निमित्तों को एक तरफ खींचकर इतना महत्त्व देते हैं कि उनका कद काफी ऊंचा हो जाता है। उनका कद हम जितना ऊंचा करते हैं, उतना ही अपना कद नीचा करते जाते हैं। मंथरा ने जो दांव खेला था, यदि वह सफल हो जाता तो रघुवंश की गौरव-गाथा कोई नहीं गाता, बल्कि आपसी क्लेश आदि ऐसे भयानक हालात होते कि प्रेम-स्नेह की गंगा ही सूख जाती। विद्रोह-विवाद की ज्वाला ऐसी धधकती कि रक्त की गंगा बहने लगती। राम उसकी दुर्भावना को ताड़ गए। उन्होंने वैसा कुछ होने देने की बजाए राज्य त्याग का निर्णय लेकर उस दांव को ही निष्फल कर दिया। समय के साथ कैकेयी के भीतर गड़ा कांटा भी निकल गया। उसकी दृष्टि में जो परिवर्तन आया था, वह दूर हो गया, किन्तु तब तक उसे बहुत खोना पड़ गया। स्वयं उसका सुहाग लुट गया। अयोध्या में उसे धिक्कारा जाने लगा। उसका अपना पुत्र भरत भी उसके पक्ष में नहीं रह पाया। इससे उसका गर्व गल गया। उसने जान लिया कि वह गलती पर थी। यदि राम ने राज्य त्याग का निर्णय नहीं लिया होता, तो कैकेयी की दृष्टि में बदलाव होना शायद कठिन था। एक तरफ रामायण का यह प्रसंग है, तो दूसरी तरफ महाभारत का वह प्रसंग, जिसमें द्रोपदी की बात को निमित्त बनाया गया। परिणामस्वरूप जनहानि, धनहानि के साथ-साथ भयंकर दुष्परिणामों का सामना करना पड़ा। हम दोनों को दृष्टिगत करते हुए विचार करें कि हम क्या कर रहे हैं? निमित्तों को सख्ती से पकड़कर महाभारत रचते हैं, गृहक्लेश रचते हैं या राम की तरह समझदारी से काम लेते हैं। ध्यान रहे निमित्त स्वयं कुछ नहीं करता। हम जिसे पकड़ लेते हैं, वही निमित्त प्रभावी बनता है। बच्चे खेल-खेल में लड़-झगड़ लेते हैं। वापस मिल भी जाते हैं, किन्तु उनके अभिभावक यदि उनकी लड़ाई को निमित्त बना लें तो वे लड़ तो लेते हैं, पर क्या वापस मेल-मिलाप कर पाते हैं? बहुत कम संभावना रहती है कि वे उन बातों को छोड़ दें। उनका गर्व, इगो, अहंकार उन्हें वैसा करने ही नहीं देता। भगवान महावीर की अमरवाणी है कि सामने वाले के सदृश यदि तुम भी क्रिया करने लगे तो उसमें व तुम्हारे में क्या अन्तर रह जाएगा।

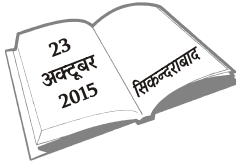




साधु और गृहस्थ जीवन की क्रियाओं में बहुत अन्तर है। यदि कोई साधुता में रम नहीं पाता है तो वह साधुता की ऊंचाईयों को नहीं छू सकता। अनासक्ति और निस्पृहता, संत जीवन के दो महान स्तम्भ हैं। इन दो स्तम्भों पर जो टिका रहता है, उस साधु का जीवन कितनी ऊंचाईयों को छू लेगा, उसका अनुमान लगाना कठिन है। उसे साधु जीवन का जो आनन्द आएगा, वह आनन्द आसक्ति व स्पृहा की दौड़ में दौड़ने वाला कभी नहीं पा सकता। प्रश्न होगा कि साधु घर-परिवार, धन-दौलत सब का त्याग करके निकलता है, वैसी स्थिति में उसमें आसक्ति एवं स्पृहा कैसे रह सकती है? ऐसा प्रश्न बनना स्वाभाविक है। वस्तुतः धन-दौलत का त्याग आसान है, लेकिन लोकेषणा, यश-कीर्ति आदि को छोड़ पाना बड़ा कठिन है। करोड़ों का त्याग करने के बाद भी यश की चाह मन में बनी रह जाती है। यही स्थिति साधु में भी बनी रह जाती है अथवा बन जाती है। उसके मन में शिष्य परिवार बढ़ाने की चाह बन जाती है। उसमें जब उसकी शक्ति प्रवाहित होने लगती है तो उसने जिस वैरागी को तैयार किया या कर रहा होता है, उसको कोई थोड़ा भी कुछ कहने की कोशिश करेगा तो उसे वह अच्छ नहीं लगेगा। वह नहीं चाहता कि उसके वैरागी को कोई कुछ कहे। उस प्रसंग से कहने वाले के प्रति उसके मन में दुःख पैदा होने लगता है। दूसरा साधु भी इसी भावना वाला हो तो दोनों में वैरागियों को लेकर संघर्ष होने लगता है। वैरागी कब साधु बनेगा कह नहीं सकते, पर उनके कारण साधुओं का पारस्परिक वात्सल्य सूखने लगता है। आपसी तनाव बढ़ने लगता है। मुंह खुल जाए तो तू-तू, मैं-मैं भी होने लगती है। जैसे गृहस्थ बच्चों के कारण झगड़ने लगता है, तू-तू, मैं-मैं करने लगता है, वैसे ही यदि साधु भी करने लगे तो यह उसके आदर्श जीवन के अनुरूप नहीं हो सकता। अतः ऐसी स्पृहा उसमें पैदा ही न हो एतदर्थ युग द्रव्य आचार्य पूज्य श्री जवाहरलाल जी म. सा. ने अजमेर में सम्वत् 1990 के साधु सम्मेलन में यह विचार रखे थे कि एक ही आचार्य के नेतृत्व में साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकाओं को चलना चाहिए। इससे साधुता निर्मल रहेगी एवं श्रावक वर्ग दिग्भ्रमित नहीं होगा। सबकी धर्म आराधना सम्यक रीत्या सम्पन्न हो सकेगी।

नोट- आचार्य श्री की उक्त भावनानुसार ही वर्तमान में इस संघ में व्यवस्था है।



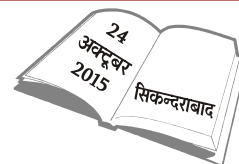


आत्म समाधि अपना लक्ष्य 132

आरूग-बोहि-लाभ की बहनों की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए उन्हें आत्म समाधि हेतु संक्षिप्त में दिशा बोध दिया गया। जिसका सार संक्षेप में कुछ-कुछ इस प्रकार है -

हमारा लक्ष्य आत्म समाधि पाना है। समाधि का स्वरूप है मानसिक ऊहा-पोह न होना, मानसिक स्वस्थता। मानसिक स्वस्थता कब प्राप्त होगी? यह तब प्राप्त होगी जब मानसिक उधेड़बुन समाप्त हो। हम समुदाय में रहते हैं। उसमें रहते हुए अनेक बार मन के प्रतिकूल स्थितियों का भी सामना करना पड़ता है। उस समय हमारे मन के परिणाम कैसे रहते हैं? हमारे मन में खीझ पैदा होती है या सामान्य स्थिति रहती है? यदि खीझ या खिन्नता पैदा होती है तो उसे दूर करने का हमने कभी सोचा या नहीं? यदि हमने उसे दूर करने की तरफ ध्यान ही नहीं दिया तो हम धीरे-धीरे असमाधि को बढ़ावा देने लगेंगे। खीझ और खिन्नता हमारी चिर संगिनी बन जाएगी। उसकी जड़ें गहरी जम जाने के बाद उसे निकालना संभव न हो सकेगा। हम जागरूक रहते हुए अपने भीतर खीझ पैदा ही न होने दें। प्रतिकूल स्थितियां आएंगी यह मान कर ही चलना चाहिए। रोड पर चलते हुए अन्य कोई गाड़ी-वाहन नहीं मिलेगा, यह संभव नहीं है। उनके बीच से अपने वाहन को सुरक्षित निकालना ही योग्य ड्राइवर की सोच होती है। उसका वैसा ही लक्ष्य रहता है। उसे दूसरे वाहनों से टकराना नहीं है। यदि कोई टकराना भी चाहे तो वह उससे अपने वाहन को बचाकर निकालने की ही कोशिश करेगा। बस यही लक्ष्य हमारा रहना चाहिए। हमारे मन के प्रतिकूल भी किसी का आचरण हो, व्यवहार हो और हमारे कहने पर भी वह सुधार नहीं करता हो तो उसके उस व्यवहार से भी हमें खिन्न नहीं होना चाहिए। अपने को यह विचार करना चाहिए कि मैंने अपना कर्तव्य अदा किया। सामने वाला स्वयं को सुधारे या न सुधारे, यह उसकी मर्जी। यदि समुदाय में उसके कारण ज्यादा ही असुविधा हो तो जो मॉनिटर या गाईड हो उसे हकीकत बता देनी चाहिए। उस समय भी हमारी भावना निर्मल व चित्त शांत रहना चाहिए।

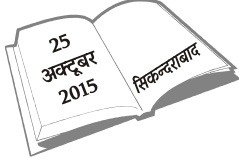




उत्तम भवन मजबूत नींव पर ही सुरक्षित रह सकता है। भवन कितना भी मूल्यवान हो, यदि नींव सुदृढ़ नहीं होगी तो भवन का अस्तित्व संदिग्ध बना रहेगा। यदि कोई कच्छ-रेणु पर भवन निर्माण करना चाहे तो उसकी मेहनत निरर्थक ही सिद्ध होगी। भवन के लिए योग्य स्थान की आवश्यकता होती है। धर्म को भी भवन की उपमा से उपमित किया जा सकता है। द्वीप आदि के रूप में उसकी महिमा का यशोगान हुआ ही है। धर्म रूपी महल के लिए नैतिकता की सशक्त भूमि का होना जरूरी है। यदि नैतिक धरातल कमजोर होगा तो बढ़-चढ़कर किया गया धर्माचरण भी असर कारक नहीं होगा। उसका प्रभाव दीर्घ कालिक नहीं होगा। आज सामायिक, स्वाध्याय पर जितना जोर दिया जा रहा है, सत्य और ईमान पर शायद उतना ध्यान नहीं दिया जा रहा है। सत्य और ईमान के बिना सुदृढ़ता आना कठिन है।

सत्य रहित सामायिक, स्वाध्याय से यदि हटता आ भी गई तो वस्तुतः उसे सुदृढ़ मत मान लेना। वह शुष्क काष्ठ की तरह सख्त तो हो सकता है, लेकिन आनन्द का प्रवाह उसमें नहीं हो पाएगा। सुख, शांति, सन्तोष को वह प्राप्त नहीं कर सकता। त्याग-तपस्या, नित्य-नियम को नैतिकता का रस अवश्य मिलना चाहिए। उसके मिलने से ही वे सरस हो सकते हैं। उसके अभाव में उनमें वैसी सरसता-समरसता का अनुभव नहीं हो सकता। प्रश्न होगा कि नैतिकता क्या है? समुदाय के हितार्थ जो नियम-मर्यादाएं स्थापित की जाती हैं, उन्हें नैतिकता कहा जाएगा। जो कृत्य आत्म हितार्थ किए जाते हैं, उन्हें धर्म कहा जाता है। धार्मिक जगत में भी समुदाय के लिए जो व्यवस्थाएं होती हैं, वे धर्म को पुष्ट करने के लिए होती हैं। उन्हें हम धर्म-नीति का रूप दे सकते हैं। यदि केवल नैतिकता को सुदृढ़ किया जाता रहा, धर्म का भवन खड़ा नहीं किया गया तो जमीन तो मजबूत हो जाएगी, पर भवन का आनन्द नहीं मिल पाएगा। अतः बाह्य नैतिकता को भी बलवती बनाएं एवं आन्तरिक जगत को भी सरल-सरस बनाने का लक्ष्य हो, तभी जीवन में समरसता आ जाएगी।



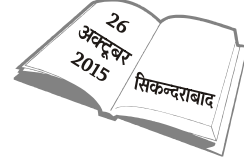


चतुर्विंशति सूक्त



(1) तुम नहीं चाहते कि तुम्हें कोई व्यवधान पहुंचाए तो तुम भी वैसा ही व्यवहार करो। (2) उपकारी के उपकारों को भूलो मत। अपकारी के अपकार याद रहे नहीं। (3) उपकारी के प्रति आदर भाव आसान है। अपकारी को भी आदर दो। (4) सम्मान देने में आगे रहो। सम्मान पाने में तुम्हारी उपस्थिति न रहे। (5) मित्र के प्रति मित्रता के भाव होने ही चाहिए। शत्रु के प्रति भी मैत्री भाव रखो। (6) शत्रुता एडवोकेट जैसी होनी चाहिए, जो केवल जिरह के समय ही नजर आए। (7) प्रभुता की धड़कन लघुता में है। लघुता का दिल उसी में है। (8) श्रद्धा ज्ञात आत्मगुणों के अनुराग का ही अपर नाम है। अनजान अनुराग श्रद्धा नहीं है। (9) श्रद्धा व्यक्ति के व्यवहार से पैदा हो सकती है, पर उसकी दृष्टि उसकी आत्मा पर रहे। (10) जो आज मनोज्ञ है, कल-परसों वैसा ही बना रहेगा, जरूरी नहीं है। (11) दृष्टि जब अशाश्वत पर होती है तो फिसलती रहती है, उसे शाश्वत पर केन्द्रित करो। (12) बौद्ध वृद्धों जैसा हो, ऋजुता बालक जैसी, पर जोश जवानों जैसा हो। (13) परिवार, समाज, राष्ट्र के चारित्र पर दृष्टि डालने के पूर्व उसे अपने पर अवश्य डालो। (14) तप का ताप केवल तन को ही न तपाए, वह तंत्र को तपाने वाला बने। (15) तप वही सार्थक है, जिससे तृप्ति मिले। अतृप्तता तप नहीं। (16) साधना सोदेश्य हो, उद्देश्य स्पष्ट हो, स्पष्टता परापेक्षी न हो। (17) क्रिया में कठोरता, हृदय में कोमलता, आत्मा की उज्वलता, साधुता की पहचान है। (18) जो स्वाधीन हो उसका त्याग करो, जो पराधीन है उसे चाहो मत। (19) प्रसन्नता दीपक है, वात्सल्य विस्तार स्नेह है, हृदय की पवित्रता बाती है। (20) प्रशंसा से पैदा होने वाली प्रसन्नता की जड़ें जमीन में नहीं होती हैं। (21) 'गुणिषु प्रमोदम्' गुणी जनों के गुणदर्शन से आविर्भूत प्रसन्नता की जड़ें गहरी होती जाती हैं। (22) ज्ञान श्रद्धा से शोभित होता है। श्रद्धा ज्ञान से सुदृढ़ होती है। (23) पाप को छोड़ें पुण्य को भोगें, संवर को सेवें, आत्मा परिपुष्ट बनेगी। (24) पूरे चराचर में यदि कोई दर्शनीय है तो वह एकमात्र आत्मा ही है।





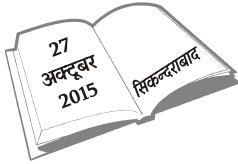
श्रावक जिनशासन की शान है। उसका जीवन सामान्य गृहस्थ से ऊंचा होना चाहिए। वह जीव हिंसा नहीं कर रहा है, इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसके जीवन में नैतिकता का संचार होना चाहिए। वह विषय-वासना का कीड़ा बनकर न जीए। उसे कीचड़ में कमलवत् जीना चाहिए। यहां एक दम्पति सम्पर्क में आया, जो शादी के पूर्व परस्पर विचार कर चुका था कि विवाह के पश्चात् वे निर्विकार जीवन जीएंगे। वह दम्पति विजय सेठ एवं विजया सेठानी का आदर्श प्रस्तुत कर रहा है। विषय-वासना के युग में उक्त प्रकार का जीवन असंभव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।

खाण्डे की धार पर चलने से भी उसे कठिन कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। सारे ही श्रावक उक्त प्रकार से जीवन जी सकें, ऐसा कम संभव है, यह मैं मानता हूँ, पर क्या उसे मर्यादित जीवन नहीं जीना चाहिए? क्या उसे झूठ, छल, कपट का सहारा व्यापार या व्यवहार में लेना चाहिए?

अनीति का धन जब घर में आएगा तो वह उसे अनैतिक तरीके ही सिखाएगा। शायद यही कारण है कि श्रावक कहाने वाले आज उन्मादी बन रहे हैं। धर्म के नाम पर धोखा हो रहा है। प्रदर्शन जीवन का अंग बन गया है। उनके शादी-विवाह के कार्यक्रमों को देखकर क्या कोई कह सकता है कि यह अल्पारम्भी श्रावक के द्वारा योजित कार्यक्रम है? प्रशंसा में जिनके प्राण अटके हैं, क्या वे श्रावकत्व की सुदृढ़ भूमिका पर खड़े हो सकते हैं? ऐशो-आराम जिनका लक्ष्य बन जाए, नाच-गान में जो मस्त बन जाए, क्या उनके द्वारा भगवान महावीर की ध्वजा फहराई जा सकती है। वे लोग धर्म ध्वज को फहरा पाएंगे?

श्रावकों! सावधान! देखना पुण्य की पूंजी खत्म हो रही है या बढ़ रही है। यदि यही हाल रहा, ऐशो-आराम, नाच-गान की महफिलें ही तुम्हारे जीवन का अंग बन गईं, तो मर कर कहां जाओगे? मरना तो निश्चित है। क्यों भूल रहे हो? कर्मों का जो भार बढ़ रहा है, उतना बोझ उठाकर कैसे पर भव की यात्रा सुखद रूपेण कर पाओगे?





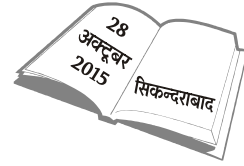
लक्ष्य बनाएं, सफल बनें



सबसे पहले यह तय करना चाहिए कि करना क्या है? करणीय निश्चित हो जाने पर वह हमारा लक्ष्य बन गया। उस लक्ष्य की पूर्ति कैसे हो सकती है, उस पर विचार किया जाए? जैसा लक्ष्य होगा उसके अनुरूप ही उसकी पूर्ति के साधन होंगे। व्यापारी के अपने लक्ष्य होंगे, खिलाड़ी के अपने होंगे। कलाकार के लक्ष्य उसकी रुचि के अनुसार होंगे। लक्ष्य अलग-अलग होंगे तो उनके उपाय भी भिन्न-भिन्न होना स्वाभाविक है। उपाय अर्थात् लक्ष्य को कैसे पाया जा सकता है? उदाहरणार्थ उसके लिए किन-किन संसाधनों की आवश्यकता है, किन-किन व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है। वह सहयोग कैसे प्राप्त हो सकता है। किस विधि से चला जाए कि लक्ष्य आसानी से प्राप्त हो जाए। यदि कोई आत्म-समाधि का अभीप्सु है तो उसका लक्ष्य होगा कि मैं आत्म-समाधि चाहता हूँ, उसका सहज उपाय है - तदनुरूप साधना में लगना।

साधना को सम्पन्न करने के लिए आत्म समाधि पा चुके महात्माओं की सन्निधि या उनका साहित्य उसके लिए सहयोगी हो सकता है। उसे अपने भीतर उठने वाले विकल्पों को समाहित करते रहना होगा। उसे विकल्पों में उलझना नहीं होगा। विकल्प पैदा होते हैं, लोभ से। विकल्प पैदा होते हैं, अहंकार से। लोभ-अहंकार की तरंगें तब उठती हैं, जब वो भीतर में रहा हुआ हो। जब उसमें चाह रूप विचलन पैदा होती है, तब तरंगें उठने लगती हैं। उन तरंगों को द्रष्टा-भाव से देखने का प्रयत्न करना होगा। द्रष्टा-भाव जितना सशक्त होगा, दृष्टि उतनी ही तीक्ष्ण होगी। उस तीक्ष्णता से तरंगें शान्त या विलुप्त हो जाएंगी। इस प्रकार से लक्ष्य को पाया जाता है। इसमें एक बात का विशेष ध्यान रखना होता है कि बीच में आने वाले अवरोधों से उत्साह मंद नहीं पड़ना चाहिए। इसके लिए संभवित बाधाओं को पहले से जान लेना चाहिए। कदाचित् उससे भिन्न अकस्मात् कोई बाधा खड़ी हो जाए तो उसे दूर करने के लिए स्वयं में अधैर्य नहीं आने दें। धैर्य से उसकी शक्ति को देखें एवं उसको दूर करने के तरीके को ढूंढें। ऐसा करने पर निश्चित ही हम लक्ष्य पाएंगे।

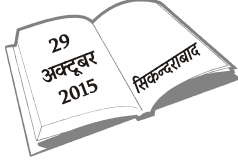




मनुहार ज्यादा करने की अथवा करवाने की आदत नहीं डालनी चाहिए। मनुहार करवाना एक प्रकार से अहंकार को पोषण है। सामान्य से ज्यादा सम्मान की इच्छा मनुहार चाहती है। मनुहार से मन राजी रहता है। यदि मनुहार न हो तो असहज हो जाने की अधिकतम संभावना है। मन आकुल-व्याकुल हो जाता है। मनुहार न होने से दूसरों पर चिढ़ होने लगती है। आक्रोश पैदा होना भी संभव है। यदि वह कदाचित् बाहर व्यक्त न भी हो पाया तो भीतर ही भीतर वह परेशान अवश्य करेगा। वह कब बाहर फूट पड़े, यह कहना कठिन है, किन्तु निमित्त मिलते ही वह बाहर फूट पड़ेगा, ऐसा कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यद्यपि उस स्थिति से व्यक्ति स्वयं भी व्यथित होता है, किन्तु उस व्यथा को दूर करने के उपायों का वह इस्तेमाल भी नहीं कर पाता। वह चाहता जरूर है कि मैं इस व्यथा से निवृत्त हो जाऊं पर वैसा अवसर उसे मिल नहीं पाता। ठीक मौके पर उसका मन विचलित हो जाएगा। यदि कभी वह व्यथा से उपरत हो भी जाए तो वह अल्प सामयिक अवस्था होती है। उसके सामने अवश्य कोई लाचारी आ गई होगी, जिसके कारण वह अपने स्वार्थ के लिए एक व्यथा से भले ही उपरत नजर आए, किन्तु वह उससे पूर्ण निवृत्त नहीं हो पाता। वह व्यथा उसके भीतर में दबी रहती है। पुराने समय में चूल्हे में राख के नीचे आग को दबाए रखा जाता था। वह दबी हुई आग निमित्त मिलते ही प्रकट हो जाती थी, वैसे ही दबी हुई व्यथा अपना असर दिखा देती है।

इसलिए मनुहार करने-करवाने का लक्ष्य या आदत रहनी ही नहीं चाहिए। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। बांस होता है तो बांसुरियों की धुन भी सुनाई पड़ने लगती है। बांस ही नहीं होगा तो बांसुरी बनेगी ही नहीं और जब बनेगी ही नहीं तो बजेगी भी नहीं। अपनी मनुहार के निमित्त जो ऊंची-नीची परिस्थितियां पैदा होती हैं, वे बनेंगी नहीं। आदमी पहले से बहुत कुछ जानता रहता है। वह जान लेता है कि तिलों में तेल कितना है। अतः मनुहार न तो ज्यादा ही करनी चाहिए और न करवाने का लक्ष्य ही रखना चाहिए।





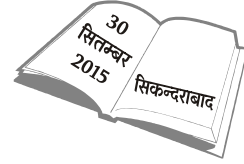
सत्य निष्ठा जीवन की आब

138

सत्यनिष्ठा जीवन की आब है। सत्य-निष्ठ व्यक्ति का व्यक्तित्व कुछ अलग ही होता है। उसका जीवन प्रसन्नता से सराबोर होता है। वह कठिनाईयों में भी मुरझाता नहीं है। पुष्प के समान वह खिला हुआ भी होता है एवं सुगन्धित भी। वह केवल रूप रंग से ही आकर्षक, मनोरम नहीं होता, उसकी सत्य-सुगन्ध भी जन-जन को रमणीय लगती है। उससे कोई भी आकर्षित हो सकता है। शत्रुता रखने वाला भी अन्तर मन से उसकी तारीफ ही करेगा। उसका अन्तर हृदय उसकी सत्य-निष्ठा से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा। उदायन सम्राट की सत्य-निष्ठा का चण्डप्रद्योतन राजा कायल था। धर्मराज की सत्य-निष्ठा से दुर्योधन प्रभावित ही नहीं था, उसके अन्तर में उनके प्रति विश्वास भी था। सत्य-निष्ठ व्यक्ति कभी गिरगिट का रूप नहीं अपनाता। उसके समक्ष सत्य ही सर्वोपरि होता है। उसका प्रत्येक कार्य सत्य समन्वित होता है। वर्तमान युग में सत्य-निष्ठा की कमी शायद नहीं हो, पर सत्य-निष्ठ व्यक्ति विरल ही होंगे। जो सत्य-निष्ठा से न भी चला हो पर निष्ठा उसकी भी सत्य पर ही होती है। वह भी सत्य को ही श्रेष्ठ मानता है।

सत्य का समाचरण न भी कर पाएं तब भी निष्ठा तो सत्य पर ही होनी चाहिए। यदि साधु नहीं बन सकें तो यह नहीं कहें कि साधुता में क्या पड़ा है। साधुता श्रेष्ठ है, ऐसी निष्ठा-श्रद्धा रहना सत्य-निष्ठा है। सत्य-निष्ठा का अर्थ है - जो जैसा है, उसको वैसा ही समझना। तत्त्व को तत्त्व रूप में समझना सत्य-निष्ठा है। यदि सत्य का समाचरण न कर सकें तो उसे नकारा नहीं जाए। तथ्य वही है। ऐसा विश्वास रखना ही चाहिए। यदि शुगर का मरीज मिश्री न खा सके तो वह उसे अखाद्य न कहे। उसका कथन यह रहे कि मिश्री शरीर को बल देती है। बुद्धि को तन्दुरूस्त रखती है। मैं परिस्थितिवश उसका सेवन नहीं कर पा रहा हूँ। यह मेरी अपनी परिस्थिति है। इस प्रकार का कथन श्रद्धा व प्ररूपणा को सही रखता है। स्पर्शना के प्रति सद्भाव रहे कि वह दिन धन्य होगा, जब मैं साधुता की सम्यक स्पर्शना कर पाऊंगा। सत्य पर निष्ठा होगी, उसका कथन करेगा, उसे अच्छा समझेगा तो एक दिन उसे स्वीकार करने का भी मन बन सकता है।

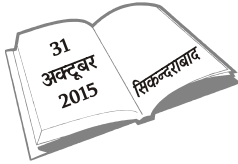




समझने के लिए जिसकी मनःस्थिति तैयार होती है, उसे समझाया जा सकता है। वह समझ भी सकता है, लेकिन जो अपनी समझ को थोड़ा भी आगे-पीछे करने को तत्पर न हो, उसे समझा पाना अशक्य है। समझने के लिए बुद्धि का सावकाश होना जरूरी है। यदि उसमें अवकाश नहीं होगा तो जो तथ्य उसके सामने आएगा, वह उन्हें स्वीकार कर ही नहीं पाएगा। कोई स्थान पहले से हाऊस फुल हो तो उसमें आने वाले का समावेश कैसे हो जाएगा? वहां आने वाले को प्रवेश कैसे दिया जा सकता है अर्थात् नहीं दिया जा सकता। तो क्या बुद्धि में हर किसी तत्त्व को, तथ्य को प्रविष्ट करा दिया जाए? नहीं। उपर्युक्त कथन का आशय यह नहीं है। उसका आशय यह है कि बुद्धि में अवकाश भी हो, तुलना भी हो और क्षमता भी हो, जिसे विवेक की संज्ञा दी जा सकती है। किसको भीतर प्रविष्ट कराना, किसको नहीं, यह बोध बुद्धि में होना जरूरी है। इस दृष्टि से विचार करें तो बुद्धि सिनेमा हॉल के वाचमैन की तरह होनी चाहिए, जो उसे ही भीतर जाने देता है, जिसके पास टिकट होता है। यदि टिकट नहीं हो तो उसे बाहर ही रोक देता है। वैसे ही बुद्धि का होना जरूरी है। पर यह नहीं होना चाहिए कि कोई भी हो, अवकाश है ही नहीं। उसे प्रवेश ही न दिया जाए। दुर्योधन को श्रीकृष्ण समझाने के लिए पहुंचे। वे चाहते थे कि कौरवों और पांडवों के बीच सुलह हो जाए, किन्तु दुर्योधन की बुद्धि के ताले बन्द थे। उसकी बुद्धि सावकाश नहीं थी। यही कारण है कि उसने अभिमानपूर्वक कहा कि बिना युद्ध के सूई की नोक जितनी जमीन भी वह पाण्डवों को देने के लिए तैयार नहीं है। यह नासमझी का खेल है। इससे एक बात स्पष्ट होती है कि जिसमें मिथ्याभिनवेश हो उसका समझना मुश्किल है। उसे बड़े-बड़े ऋषि-महर्षि भी नहीं समझा सकते। भगवान महावीर से अनेक लोगों ने बोध पाया, पर गोशालक बोध पाने के बजाय कृतघ्नता पर उतर आया।

पुराने लोग कहा करते थे कि 'सीख वाको दीजिए, जाको सीख सुहाए' अर्थात् सीख उन्हीं को देना उचित है, जिनको सीख सुहाती हो। जो सुनने, समझने एवं ग्रहण करने की तैयारी में हों।





विचारों को कार्यान्वित करो



सुन्दर विचार, सुन्दर कथन क्रिया के अभाव में जैसे ही प्रतीत होते हैं, जैसे नकली मोती। ऐसा मोती दिखने में बहुत सुन्दर होगा, चमक भी खूब होगी, लोगों को आकर्षित भी करेगा, किन्तु नकली होने से वह मूल्यहीन है। यानी चमक व सौन्दर्य के अनुरूप गुण न होने से जैसे मोती का मूल्य नहीं मिलता, वैसे ही क्रिया, चरित्र के अभाव में विचार व प्ररूपण कथन भी मूल्य नहीं पाता। क्रिया का समन्वय हो तो वे विचार अमूल्य हो सकते हैं। ढपोर शंख बोलता बहुत है पर देता नहीं। बादल गरजते बहुत हैं, पर बरसते नहीं। ऐसे शंख या बादल किस काम के? वैसे ही क्रिया शून्य विचार भी किस काम के? विचारों को कथन तक ही नहीं रखते हुए उन्हें क्रिया में ढालने का प्रयत्न करना चाहिए। मात्र विचार, ज्ञान उस लंगड़े के समान है, जो देखता तो है कि आग लग गई है, किन्तु पंगुता के कारण उससे बचकर बाहर नहीं निकल पाता। वहीं दूसरा अन्धा व्यक्ति भी था जो देख नहीं पा रहा था कि आग लग गई, लेकिन उसकी गर्मी का आभास होने पर वह बचने के लिए इधर-उधर भागता है, मगर मार्ग नहीं देख पाने से बाहर नहीं निकल पाता। इसी प्रकार ज्ञान, विचार से शून्य क्रिया भी मूल्य खो बैठती है। दोनों का समन्वय ही दोनों को मूल्यवान बना देता है। अतः दोनों मिलकर ही जीवन को रोशन करने वाले होते हैं।

विचारों को कार्यान्वित न कर पाएं तो क्या उनका निरूपण भी नहीं करें? यह एक प्रश्न पैदा होता है। प्रश्न महत्वपूर्ण है। उत्तर है कि विचार भी सही एवं निरूपण भी करें। उन्हें नोट भी करें। हो सकता है कि उससे कोई दूसरा मूल्य प्राप्त कर ले। अभी के उपदेश से भी लोग तिरते ही हैं। वैसे ही यदि हम अपने विचारों को कार्यान्वित नहीं कर पाते हों तो उनका कथन भी न करें, ऐसी बात नहीं है। हमारे विचार दूसरों के लिए उपयोगी भी हो सकते हैं। हमें उनका जो लाभ, मूल्य मिलना चाहिए, आनन्द मिलना चाहिए, वह नहीं मिल सकता। शक्कर बेचने वाला उसे खाए नहीं तो वह उसके स्वाद से वंचित ही रहता है, पर दूसरों को तो उसका स्वाद आता ही है। अतः हम विचारों को क्रियान्वित कर सकें तो ठीक, अन्यथा उनका निरूपण, कथन, लेखन करने से नहीं चूकें।





अनाहत नाद

हमारे शरीर में हर समय एक दिव्य आवाज पैदा होती रहती है
जिसे अनाहत नाद कहते हैं,
क्योंकि यह आवाज बिना किसी आहत, यानी टक्कर के पैदा होती है।
इस दिव्य आवाज को शब्द ब्रह्म कहते हैं,
मतलब ब्रह्म (ईश्वर) का स्वरूप

